

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182715

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-67-11-1-68-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H801.9

V31A

Accession No. P. GH1658

Author

वर्मा, श्यामलकान्त

Title

आधुनिक समीक्षा 1955

This book should be returned on or before the date last marked below

आधुनिक समीक्षा

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात्]

आलोचना व निबन्ध

लेखक—

प्रोफेसर श्यामलाकान्त वर्मा, एम० ए०

हिन्दी - विभाग

सतीशचन्द्र कालेज, बलिया

प्रकाशक—

अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल

नयाटोला, पटना—४

प्रकाशक—
रामकुमारी देवी
अध्यक्ष—
अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल
पटना—४

प्रथमबार : १९५५ ई०

मूल्य २)

मुद्रक—
लालता प्रसाद
ज्योति प्रेस
मध्यमेश्वर, बनारस

समर्पण
अपने गुरुजनों को
—श्यामलाकान्त वर्मा

अपनी बात

आधुनिक काल में ही आलोचना को उसका आधुनिक रूप मिला, किन्तु उसके विकास की गति इतनी क्षिप्र थी कि हिन्दी-जगत को कुछ वर्षों में ही आलोचना का बहुत सुलभा हुआ और समृद्ध साहित्य प्राप्त हो गया। आज भावयित्री प्रतिभा के आगे कारयित्री प्रतिभा कुछ दबती सी दीख रही है और यही कारण है कि आलोचनात्मक ग्रन्थ अधिक, पर आलोच्य ग्रन्थ कम मात्रा में निकल रहे हैं। लेखकों की आलोचना के साथ आलोचक एक दूसरे की आलोचना भी करते दीखते हैं किन्तु आलोचकों पर विस्तृत विचार नहीं हो सका है। आलोचना साहित्य के विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन आलोचकों के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक हो जाता है।

हिन्दी साहित्य में आलोचना का श्रीगणेश तो अवश्य 'प्रेमघन' और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने किया किन्तु उसे आधुनिक रूप वस्तुतः श्री रामचन्द्र शुक्ल जी ने ही दिया है। लाला भगवान दीन जी ने टीकायें दीं तथा तुलनात्मक ढंग पर कुछ बिहारी व देव के सम्बन्ध में कहा। मिश्रबन्धुओं की भी यही स्थिति थी। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने 'साहित्यालोचन' के द्वारा विदेशी समीक्षा प्रणाली से हिन्दी का परिचय कराया किन्तु कृतिकारों

के विचारों के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत करने का कार्य शुक्लजी के द्वारा ही हो सका। श्री रामचन्द्र शुक्ल ही हिन्दी के उस आलोचक के रूप में सर्व-प्रथम दीख पड़े जिसके द्वारा विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति पर समीक्षाएँ प्रस्तुत हुईं और नए सिद्धान्त स्थिर हुए। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में जिस नवीन, दृष्टि को लेकर शुक्लजी आए, उसके कारण उनका आलोचक रूप सबसे अलग दीख पड़ा। शुक्लजी के इस महत्व के कारण ही प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने समीक्षा के विकास-क्रम को दिखलाने के लिए शुक्लजी और उनके बाद के समीक्षकों पर विचार करना आवश्यक समझा है। इस विचार-धारा के आधार पर ही पुस्तक का विषय 'आधुनिक-समीक्षा' रक्खा गया है।

आलोचकों के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व, विचार में वैज्ञानिकता लाने के लिए कुछ सामान्य भेदक-तत्वों के आधार पर आलोचकों का वर्गीकरण करना अधिक उपयुक्त लगता है। वर्गीकरण की उपयोगिता के आधार पर ही कुछ लोग शैली को और कुछ लोग प्रवृत्तियों को भेदक-तत्व के रूप में स्वीकार कर वर्गीकरण की ओर बढ़े हैं। शैली के आधार पर वर्गीकरण करनेवाले विद्वानों ने सैद्धान्तिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक और प्रभावामिव्यञ्जक जैसे चार वर्ग निश्चित किए हैं, और प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण करनेवालों ने सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक, वादोन्मुखी आदि विभिन्न विभाग किए हैं। प्रवृत्तियों के आधार पर ही विभाग करना

अधिक संगत लगता है, क्योंकि प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व ही आज-कल समीक्षा के क्षेत्र में अधिक लक्षित होता दीख रहा है। एक प्रवृत्ति के दो लेखकों की शैली भिन्न हो सकती है, अतः शैली का विचार तो विभिन्न लेखकों के साथ ही करना अधिक उचित होगा। प्रस्तुत पुस्तक में प्रवृत्तियों को ही आधार बनाया गया है और समीक्षा को सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक और वान्दोमुखी खंडों में विभाजित किया गया है। दो प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर 'वान्दोमुखी' खंड का पुनः प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणवादी वर्ग में विभाजन किया गया है। इन्हीं वर्गों के आधार पर प्रत्येक अध्याय का नामकरण किया गया है। आरम्भ में प्रस्तुत किए जानेवाले वर्ग का परिचय देकर उस वर्ग में आनेवाले समीक्षक और समीक्षाओं के सम्बन्ध में विचार करने का प्रयत्न हुआ है।

आलोचना के प्रत्येक वर्ग में पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी पर विचार किया गया है, तत्पश्चात् वर्ण-क्रम के आधार पर शुक्लोत्तर-समीक्षकों तथा उनकी समीक्षाओं पर विचार प्रेषित हुआ है। वर्ण-क्रम के आधार पर विचार करने के कारण इस पुस्तक में आलोचकों के नाम के साथ लगी हुई संख्या का कोई महत्व नहीं है। इस पुस्तक का प्रधान उद्देश्य विश्लेषण करना है। प्रत्येक समीक्षक के सम्बन्ध में अलग-अलग जान लेने के बाद विश्व पाठक अपने दृष्टिकोण से यह निश्चित कर लेंगे कि किस समीक्षक का क्या स्थान है। विभिन्न वर्गों के कारण यह

भी सम्भव है कि एक समीक्षक एक वर्ग में शीर्ष-स्थानी हो , पर दूसरे वर्ग में उसका कोई स्थान न हो ।

शुक्लजी के बाद समीक्षा की गति में विकासशील तत्व लक्षित होता दिखाई पड़ा है । विकास का अर्थ है दृष्टि का प्रसार और नये-नये विचारों को ग्रहण करने की शक्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि । शुक्लजी की आलोचना में जो गाम्भीर्य है और उनकी पकड़ में जो यथार्थता है उसको कम परवर्ती आलोचक पा सके हैं । पर शुक्लजी, जिन बातों के आधार पर किसी वस्तु की हेयोपादेयता के सम्बन्ध में विचार करते थे, उनका परिसर निरन्तर विशाल होता गया है और बदलता भी गया है । आचार्य शुक्लजी के दिये गए मान और सिद्धान्त को ही लेकर आज का समीक्षक नहीं बढ़ रहा है । आज का समीक्षक लेखक की परिस्थितियों पर विचार करता है, आलोच्य को प्रगतिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से देखता है तथा जीवन के साथ उसके सम्बन्ध को निरूपित करता है । समीक्षा के क्षेत्र में इस परिवर्तन के कारण ही मैंने शुक्लोत्तर-समीक्षा को विकास-शील कहा है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में विकास की दिशा निरूपित करते रहने के अतिरिक्त निर्णय के रूप में विकास का अलग ही दिग्दर्शन कराने का यत्न किया है ।

पुस्तक का विषय अत्यन्त आधुनिक है और समीक्षकों की सभी पुस्तकों को पढ़ने पर ही विचार प्रकट किया जा सका है । कार्य श्रम-साध्य रहा है किन्तु यदि उद्देश्य की पूर्ति हो सकी हो

तो अपने भ्रम को सफल मानूँगा। जहाँ तक सम्भव हुआ है सभी शुक्लोत्तर-समीक्षकों के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यदि कुछ समीक्षक छूट गये हों तो भूल समझ कर वे क्षमा करेंगे। पुस्तकों की सहायता देकर, मार्ग निर्देश कर तथा अन्य प्रकार की सुविधा देकर गुरुजनों एवं साथियों ने जो सहायता की है, उसे भूला नहीं जा सकता। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विशेष सम्मतियों और श्री विजयशंकर मल्ल एवं श्री त्रिलोचन शास्त्री के विभिन्न सुझावों के बिना कार्य में जो बाधा मिलती, उसे कहा नहीं जा सकता। उनके अनुग्रह की सार्थकता तो तभी हो सकती है, जब विद्व-जन निबन्ध से परितोष लाभ करें। 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्।' }

सी २३/२७
कबीरचौरा, बनारस

—श्यामलाकान्त

विषय-सूची

विषय	पृ० सं०
१. समीक्षा क्या है	१३
२. सैद्धान्तिक समीक्षा	२२
३. ऐतिहासिक समीक्षा	५०
४. साहित्यिक समीक्षा	७०
५. वान्दोन्मुखी समीक्षा	६७
६. निर्णय	११६
७. अनुक्रमणिका	१२५—१३१

अध्याय १

: समीक्षा क्या है :

आलोचना के पर्याय के रूप में ही 'समीक्षा' शब्द का व्यवहार होता है। यह शब्द अंग्रेजी 'क्रिटिसिज्म' का समानार्थी है। समीक्षक खुली दृष्टि से साहित्य के सौन्दर्य को देखता है और उसमें निहित गूढ़तम भावों का पता लगाता है। आरम्भ-काल से ही समीक्षक का कर्तव्य कवि और काव्य के गुण-दोष की परीक्षा करना रहा है। काव्य की उपादेयता और अनुपादेयता के सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से निर्णय देनेवाला ही समीक्षक माना जाता है और उसका यह निर्णय ही समीक्षा है।

अभिनव गुप्तपादाचार्य ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है :

‘यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं ।

स्वलोकन नियोजनया जनस्य ॥’

अर्थात् मैं जनसाधारण के लिए अपने लोचन, ज्ञान या मन के द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या से काव्यालोक को स्पष्ट करता हूँ।

‘ध्वन्यालोकलोचन’ के इस उद्धरण से आलोचना या समीक्षा के उद्देश्य का स्पष्टीकरण होता है और पता चलता है कि समीक्षक प्रस्तुत समीक्षा के द्वारा पाठक को आलोच्य का बोध कराता है और समीक्षा से पाठक आलोच्य को पूर्णतः समझ सकने की बुद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार समीक्षा वह रचना है जिससे पाठक को आलोच्यकृति के समझने में सहायता मिलती है।

पूर्वकाल में समीक्षक, टीका, व्याख्या अथवा उत्कर्षापकर्ष विधान का दिग्दर्शन कराने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री सम-

भूता था। गुण-दोष विवेचन हो उसके लिए पर्याप्त था, किन्तु वर्तमान समय में समीक्षा के अन्तर्गत समीक्षक को आलोच्य-ग्रन्थकार की जाति का निर्णय करना, गुण-दोष की मात्रा दिखलाने की अपेक्षा अधिक आवश्यक हो गया है। पूर्वकाल की समीक्षा और वर्तमान समीक्षा में उपस्थित इस अन्तर के कारण ही दोनों के प्रकार और पद्धतियों में भी भिन्नता आ गई है।

आरम्भ काल में गुण-दोष विवेचन के लिए कुछ सिद्धान्त निर्धारित होते थे और उन्हीं के आधार पर आलोच्य-वस्तु की समीक्षा की जाती थी। इस प्रकार उस समय केवल सिद्धान्तवादी समीक्षा ही मिलती है, जिसकी विभिन्न पद्धतियाँ हैं।

वर्तमान समय की पद्धति 'लेखक की जाति' को निर्धारित करने की है। केवल समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर गुण-दोष-विवेचन करना ही आज के समीक्षक को इष्ट नहीं। साहित्य में ऐतिहासिक खोजों एवं सामाजिक और सांस्कृतिक तथा राजनीतिक हलचलों के कारण लेखकों का जो व्यक्तित्व स्पष्ट होता है, उसके आधार पर उन लेखकों की जाति निर्धारित करने का प्रयास आज के समीक्षकों में चल रहा है। अपने इस प्रयास के कारण ही ये समीक्षक भी विभिन्न जातियों में बँट गये हैं। साथ ही उनकी समीक्षा भी।

आज की समीक्षा का निम्नलिखित रूप सामने है : १. सैद्धान्तिक समीक्षा २. ऐतिहासिक समीक्षा ३. साहित्यिक समीक्षा ४. वादोन्मुखी समीक्षा आदि। समीक्षा के इन विभिन्न रूपों को समीक्षक विभिन्न पद्धतियों से प्रस्तुत करता है और ये पद्धतियाँ उस समीक्षक की शैली को निर्धारित करती हैं।

वर्तमान समीक्षा के ये विभिन्न रूप किस प्रकार भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में आये, यह जान लेना आवश्यक है। हिन्दी-साहित्य में आलोचना का श्रीगणेश 'प्रेमघन' तथा बालकृष्ण भट्ट

ने किया। इनकी आलोचना गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया तथा उनके समय तक समीक्षा का सैद्धान्तिक रूप ही सम्मुख था। इनके पश्चात् डा० श्यामसुन्दर दास ने पाश्चात्य समीक्षाओं का अध्ययन आरम्भ किया। उनपर पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा जो उनके साहित्यालोचन से स्पष्ट है। भारतीय समीक्षा के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों में यहीं से परिवर्तन आरम्भ हुआ। बाबू साहय के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के दर्शन होते हैं। उन्होंने कृतिकार के विचारों के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत करना ठीक समझा। विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ सामने आईं तथा नये सिद्धान्त स्थिर हुए। इन नए परिवर्तनों से समीक्षा का पूर्व रूप बदलता गया और वर्तमान परिस्थितियों के प्रभाव से उसके विभिन्न रूप लक्षित हुए।

डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य शुक्ल ने समीक्षा को व्यवस्थित रूप देकर नये समीक्षकों का पथ-प्रदर्शन किया। छिट-पुट समीक्षाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं तथा समीक्षकों में समीक्षा के रूढ़िगत सिद्धान्तों को तोड़ने का साहस जगा। अब तक हिन्दी को विश्वविद्यालयों में स्थान न मिला था, अतः इन समीक्षाओं के पाठकों की मात्रा बहुत ही कम थी। पाठकों के कमी के कारण ही समीक्षकों की भी संख्या अधिक न थी। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में सर्वप्रथम उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन आरम्भ हुआ। हिन्दी के अध्ययन का अर्थ था, कृतियों और कृतिकारों का अध्ययन। छात्रों ने अध्ययन आरम्भ किया और लेखकों ने उनके सहायतार्थ टीकाएँ तथा परीक्षोपयोगी प्रश्नों के आधार पर नई समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। इन समीक्षाओं को समीक्षा न कहकर 'छात्रोपयोगी समीक्षा' कहना ही अधिक उचित है, क्योंकि इनकी

को समझने के लिए इतिहास की भी शरण लेता है। शुद्ध समीक्षक स्थिर सिद्धान्तों, नये सिद्धान्तों तथा लेखक की वर्तमान स्थिति के आधार पर आलोच्य की समीक्षा करता है; किन्तु ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करनेवाला इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त लेखक की जीवनी, उसकी परिस्थिति तथा उसके पूर्व की परंपरा पर विशेष ध्यान रखता है। अतः ऐतिहासिक समीक्षक का कर्तव्य शुद्ध समीक्षकों से विस्तृत है। ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षकों में श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री कृष्ण-शंकर शुक्ल, श्री केशरीनारायण शुक्ल, श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री पीताम्बरदत्त बड़थवाल, श्री रामकुमार वर्मा, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं।

समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियाँ साहित्य पर बराबर प्रभाव डालती रहती हैं। साहित्य का नया रूप इन्हीं बदलती हुई परिस्थितियों का परिणाम है। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क और आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से नवीन भारतीय की दृष्टि में मानवीय विश्वासों, क्रियाओं और विचारों के पुरातन मान बदल रहे हैं। इन मूल्यों (वैल्यूज) के बदलने के कारण साहित्य का स्वर भी बदला है और बदलता जा रहा है। प्रायः के सिद्धान्त से प्रभावित होकर कुछ भारतवासियों ने साहित्य में मनाविश्लेषण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है तो कुछ ने रूस के मार्क्सवाद का प्रभाव ग्रहण कर प्रगतिशील रचना आरम्भ की है। किसी पर आस्कर वाइल्ड प्रभाव डाल रहे हैं तो किसी पर ईलियट। अपने स्वच्छन्द व्यक्तित्व से हटकर लेखक किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन साहित्य में कर रहा है और इन्हीं सिद्धान्तों को माननेवाले आलोचक आलोच्य को इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देखने लगे हैं। ये आलोचक आलोच्य

को, “वाद” (मत विशेष) की दृष्टि में देखते हैं और उसी के अनुसार लेखक को पलायनवादी, प्रगतिशील, मनोविश्लेषणशील आदि की संज्ञा देते हैं। आलोच्य को देखते समय मार्क्सवादी आलोचक सर्वप्रथम यह देखता है कि आलोच्य सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से कहाँ तक सम्बन्धित है। वह कला को एक ऐतिहासिक ढाँचे में रखकर देखता है। अपने इस दृष्टिकोण से ही वह आलोच्य की समीक्षा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार विभिन्न वादों से प्रभावित आलोचकों को वादोन्मुख आलोचक या समीक्षक की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसमें विभिन्न राजनीतिक तथा सामाजिक ‘वादों’ से प्रभावित सभी प्रकार के समीक्षक आ जाते हैं। शुद्ध साहित्यिक समीक्षकों में इनका अन्तर है। इनका दृष्टिकोण संकुचित होता है और ये अपने वाद की ओट में आलोच्य को देखते हैं। इनमें शुद्ध समीक्षकों की निष्पक्षता नहीं रहती। इन समीक्षकों में श्री अमृतराय, श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त, श्री रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदानसिंह चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। मनोविश्लेषणवादी समीक्षक, लेखक की कुंठा आदि पर तथा अन्तश्चेतना पर विशेष ध्यान देते हैं। इनमें प्रमुखतः ‘अज्ञेय’, इलाचन्द्र जोशी और डा० नगेन्द्र का नाम लिया जाता है।

छात्रोपयोगी समीक्षा लिखनेवाले समीक्षकों, ऐतिहासिक समीक्षकों तथा वादोन्मुख समीक्षकों के सम्बन्ध में जान लेने के पश्चात् साहित्यिक समीक्षकों के सम्बन्ध में जानना भी आवश्यक हो जाता है। ये साहित्यिक समीक्षक ही शुद्ध रूप में समीक्षक हैं; किन्तु इनमें भी वर्गभेद है। सर्वप्रथम इनमें दो मुख्य वर्ग दीखते हैं और फिर इन वर्गों के उपवर्ग भी सामने आते हैं। साहित्यिक समीक्षकों का पहला वर्ग वह है जो सिद्धान्तवादी है और पूर्व-

कालीन समीक्षकों की तरह सिद्धान्तों की चर्चा करनेवाला है। सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षक काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करते और मत प्रगट करते हैं। कवि और काव्य के सम्बन्ध में वे मौन रहते हैं और उनकी समीक्षा केवल सिद्धान्त-सम्बन्धी रहती है। वे बतलाते हैं कि रस, अलंकार का क्या अर्थ है तथा काव्य के वादों, जैसे ह्यायावाद, रहस्यवाद आदि के क्या प्रयोजन हैं। ये शास्त्र प्रस्तुत करते हैं और इनके आधार पर दूसरे लोग कृति और कृतिकार की समीक्षा देते हैं। साहित्यिक समीक्षकों का यह वर्ग सिद्धान्तवादी समीक्षकों के नाम से मान्य है, जिसमें प्रमुखतः श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री गुलाबराय, श्री बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक समीक्षकों में सैद्धान्तिक समीक्षकों के अतिरिक्त दूसरा वर्ग शुद्ध समीक्षकों का है। ये समीक्षक आलोच्य पर दृष्टि रखकर उसे उसकी वर्तमान परिस्थिति के बीच देखते हैं। दिये गये काव्य सिद्धान्तों के आधार पर काव्य सम्बन्धी दोषों को देखने के साथ ही वे देखते हैं कि प्रस्तुत कृति, लेखक की स्वतन्त्र प्रतिभा की उपज है या परिस्थितियों की। इस प्रकार इन शुद्ध समीक्षकों की दृष्टि आलोच्य और उसकी परिस्थितियों पर रहा करती है। वे समीक्षक देखते हैं कि आलोच्य पर प्राचीन परंपरा का प्रभाव काव्य-पाठ के प्रतिफल के रूप में है अथवा दर्शन या अध्यात्म के प्रभाव के रूप में। वे किसी वाद या मत-मतांतर के चक्कर में न पड़कर देखते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में लेखक के विचारों का प्रभाव समाज पर क्या है और लेखक जिस परिस्थिति में था उसमें उन विचारों का क्या प्रभाव था। लेखक ने क्या

पढ़ा है, उसकी प्रतिभा और कल्पना ने उसका साथ कहाँ तक दिया, आदि तथ्यों पर इस प्रकार का आलोचक जिसे हम शुद्ध साहित्यिक आलोचक कहते हैं, ध्यान देता है और निष्पक्ष भाव से इन बातों पर अपना मत प्रकट करता है। शुद्ध साहित्यिक समीक्षा ही वह वास्तविक समीक्षा है जिसमें गुण-दोष-विवेचन के अतिरिक्त निष्पक्ष भाव से आलोच्य की जाति या वर्ग का निर्धारण होता है, समीक्षकों की इस पंक्ति में जिनका नाम उल्लेखनीय है, वे हैं। सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रवली पांडे, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, नन्ददुलारे बाजपेयी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० रघुवंश, रामकुमार वर्मा, रामखेलावन पांडे, सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

अध्याय २

: सैद्धान्तिक समीक्षा :

प्रथम अध्याय में यह कहा जा चुका है कि सैद्धान्तिक समीक्षा करनेवाले समीक्षक काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करते और मत प्रकट करते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सैद्धान्तिक समीक्षा वह समीक्षा है जिसमें काव्य-सिद्धान्तों का कथन हो। ऐसी समीक्षाओं में सामान्य सिद्धान्त ही समीक्षक के प्रतिपाद्य विषय होते हैं और इन सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना ही इन समीक्षकों का कार्य होता है। साहित्य या काव्य के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण, कला, साहित्य तथा विभिन्न वादों का विवेचन, उनकी प्रगति का इतिहास और उनके सम्बन्ध की अन्य धारणाओं का ज्ञान कराना ही इनका कर्तव्य है। रचनात्मक साहित्य के कवि और सहृदय दोनों पक्षों पर विचार प्रस्तुत कर इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक बतलाता है कि कर्ता अर्थात् कवि या लेखक को कैसी रुचि रखनी चाहिए तथा ग्राहक या श्रोता को कैसे कर्ता के भावों को ग्रहण करना चाहिए। 'परंपरा-मुक्त साहित्याभिरुचि से काव्य का अनुशीलन करने में क्या त्रुटियाँ होती हैं, कैसे प्रगतिशील या विकासमयी साहित्याभिरुचि ही काव्यानुशीलन के लिए आवश्यक है और काव्य के साथ पूर्णन्याय कर सकती है इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचना सैद्धान्तिक समीक्षा

की गवेषणा के विषय हैं।^१ इस प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा का विषय या लक्ष्य सिद्धान्तनिरूपण कर साहित्य को शास्त्र प्रदान करना है। सैद्धान्तिक समीक्षा से प्राप्त सिद्धान्तों के आधार पर ही दूसरे प्रकार के आलोचक अपनी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। अस्तु सैद्धान्तिक समीक्षा शास्त्र संपादन का कार्य करती है और उसका यह कार्य कवि तथा कृति के द्वारा सम्पादित होता है। सैद्धान्तिक समीक्षक खोज या निर्माण के बाद जो सिद्धान्त प्रतिपादित करता है उसकी उपयोगिता समझकर कभी-कभी कवि भी, किन्तु आलोचक तो सदा ही उसका व्यवहार करते हैं और वे सिद्धान्त शास्त्रीय सूत्र बन जाते हैं। अतः सैद्धान्तिक समीक्षाओं से एक ओर तो उन सिद्धान्तों के निर्माण के पूर्व के साहित्य का इतिहास ज्ञात होता है और दूसरी ओर नई साहित्यिक रचनाओं के प्रणयन का मार्ग मिलता है। हिन्दी में ऐसे समीक्षकों की कमी है। इस प्रकरण में शुक्ल जी तथा उनके बाद के सैद्धान्तिक समीक्षकों में से एक-एक के सम्बन्ध में जान लेना समीचीन होगा। इनके कर्तृत्व को समझने पर ही हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का स्थान समझा जा सकता है।

तथ्यों को पकड़ने की क्षमता के साथ ही सिद्धान्त-निर्माण की शक्ति लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल आलोचना के क्षेत्र में आए। उन्होंने व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक श्रीरामचन्द्र शुक्ल] समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी में केवल बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की थी; किन्तु उन्होंने पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का दृष्टिपथ में रखा था। शुक्लजी ही सर्वप्रथम आलोचक हैं

जिन्होंने हिन्दी में स्वतंत्र सिद्धान्त लेकर शुद्ध सैद्धान्तिक समीक्षा का निर्माण किया है। जिन सिद्धान्तों को उन्होंने निर्मित किया उनका आद्यन्त पालन किया। तथा उन्हीं के अनुसार साहित्य समीक्षा प्रस्तुत करते रहे।

एक ओर शुक्लजी ने नए सिद्धान्तों को जन्म दिया और दूसरी ओर उन्होंने प्राचीन संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों तथा नवीन पाश्चात्य सिद्धान्तों का अध्ययन कर उनमें निहित विधायक तत्त्वों को स्वीकृति दी। एक ओर उन्होंने अपने कथन को पुष्ट करने के लिए ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण आदि से उद्धरण दिये हैं और दूसरी ओर विभिन्नस्थानों और टिप्पणियों में प्लेटो, अरस्तू, रिचार्ड आदि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इन सबसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शुक्लजी ने समीक्षा प्रस्तुत करने के पूर्व संस्कृत शास्त्रों तथा पाश्चात्य ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन किया था। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने मनोविज्ञान आदि का भी अच्छा परिचय प्राप्त किया था जिससे उन्हें भावों को समझाने में सहायता मिली है। उन्होंने “सर्व कान्शस रीजन” तथा अन्य ऐसे पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से कितने ही विचारों को स्पष्ट किया है। अस्तु, शुक्लजी ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में पर्यटन किया है और उनके द्वारा निरूपित सिद्धान्तों को आज भी आधार रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

“काव्य में रहस्यवाद” और “रस मीमांसा” में शुक्लजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं। इन पुस्तकों में काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही विवेचन हुआ है। “चिन्तामणि” द्वितीय भाग के प्रायः सभी लेख सिद्धान्त सम्बन्धी हैं। इन सबके अतिरिक्त व्याख्यात्मक समीक्षाओं को प्रस्तुत करते समय भी

सिद्धान्त सम्बन्धी बातें कही गई हैं। “शोस्वामी तुलसीदास” “जायसी” आदि विभिन्न ग्रन्थों में अलंकारों का भी विवेचन हुआ है, जो काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ही समझे जाने चाहिए।

“हिन्दी साहित्य का इतिहास” में उन्होंने लिखा है “भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है”^१ अर्थात् वे कवि में भावुकता को अनिवार्य मानते हैं। किसी स्थान पर भी उनके इस विचार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी विचार-को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—“अनः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है तभी कवि होता है।”^२ इस कथन से स्पष्ट है कि भावुकता को प्रधान मानते हुए भी कल्पना और अभ्यास को वे आवश्यक मानते हैं। शुक्लजी की ‘भावुकता और कल्पना’ पुराने आचार्यों की ‘शक्ति’ के अन्तर्गत समाहित हो जाती है तथा शुक्लजी के ‘भाषा पर अधिकार’ में प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित ‘निपुणता’ और ‘अभ्यास’ दोनों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार काव्य-हेतु सम्बन्धी प्राचीन मन को शुक्लजी ने नये रूप से अधिक बोधगम्य कर दिया है।

रस-दशा के सम्बन्ध में शुक्लजी ने “चिन्तामणि” (१ भाग) के पृ० ३०८ पर लिखा है “लोक हृदय में हृदय के लीन होने का नाम रस-दशा है।” इसके अनिरिक्त रस-दशा पर ही ‘रस-मीमांसा’ (प्रथम संस्करण) के पांचवें पृष्ठ पर ‘काव्य की साधना’ प्रकरण के अन्तर्गत उनका विचार इस प्रकार है— ‘जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५५।

२ काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ, ७६।

की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।” रस-दशा पर प्रकट किये गये विचारों से ज्ञात होता है कि शुक्लजी की दृष्टि लोक पर ही रही है। वे जीवन और जगत् की ओर अधिक उन्मुख दीखते हैं तथा लोक-धर्म व लोकादर्शवाद ही उनका सबसे मुख्य सिद्धान्त है। उस काव्य को ही वे श्रेष्ठ समझते हैं जिसमें लोक-धर्म या लोकादर्शवाद को प्रश्रय मिला हो: किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लोक के परे जो कुछ है उसे वे अस्वीकार करते हैं। लोक-धर्म से समन्वित होने पर लोक से परे की बात भी हो तो उन्हें आपत्ति नहीं।

कल्पना को योरोपीय साहित्य-मीमांसा में बहुत प्रधानता दी गई है। शुक्लजी भी उसकी प्रधानता मानते हैं पर उसे ही कवि का साध्य नहीं मानते। रस-मीमांसा (प्रथम सं०) के पृ० २६ पर वे लिखते हैं—‘ योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन; पर है साधन ही, साध्य नहीं।’ वास्तव में शुक्लजी का यह विचार तथ्यपूर्ण है। यदि काव्य में विचार नहीं हो तो कल्पना और चमत्कार आडम्बर से लगेंगे। काव्य में भाव-पक्ष प्रधान है अतः कल्पना साध्य नहीं मानी जा सकती: किन्तु कल्पना की प्रधानता भी निश्चित है। काव्य वहीं श्रेष्ठ होता है जिसमें कला पक्ष और भाव पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय हो। काव्य में भाव के साथ कल्पना और उक्तिवैचित्र्य आदि की भी आवश्यकता होती है और इन सबके औचित्य पर ही काव्य की उत्कृष्टता है।

उक्तिवैचित्र्य को मान्यता देते हुए शुक्लजी गोस्वामी तुलसीदास की आलोचना में उसकी आनवार्थता बतलाते हैं किन्तु उसके नाम पर बे-पर की उड़ान को स्वीकार नहीं करते।

कला के सम्बन्ध में कला का लक्ष्य प्रेषणीयता मानते हुए वे “काव्य में रहस्यवाद” के पृ० १०४ पर लिखते हैं—“एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।” किन्तु प्रेषणीयता को हम पूर्णतः कला के लक्ष्य के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। कला का सम्बन्ध प्रेषणीयता के उस अंश से है जिसमें रूप की अभिव्यक्ति हो। अतः कला सब प्रकार की अनुभूतियों को नहीं, बल्कि रूपगत व सौन्दर्यगत अनुभूतियों को दूसरे तक पहुँचाती है। उसे बुद्धिगत अनुभूतियों की आकांक्षा नहीं होती।

शुक्लजी ने वाच्यार्थ को ही सर्वोत्तम माना है क्योंकि लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ से होकर ही बुद्धिग्राह्य होते हैं। पर यह विचार ठीक नहीं दीखता। लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ का तो वाच्यार्थ होकर बुद्धिग्राह्य होना उन्होंने स्वीकार किया है किन्तु तथ्य यह है कि केवल वाच्यार्थ ही काव्य में महत्त्व नहीं रखता बल्कि उस वाच्यार्थ से जो कुछ लक्षित या व्यंजित होता है, वही काव्य में महत्त्वपूर्ण है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वे काव्य में स्वाभाविक रहस्यभावना का समर्थन करते हैं पर सांप्रदायिक रहस्यवाद का साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर व्यवस्थित विरोध करते हैं।

कविता में अभिव्यंजना से अभिव्यंग्य वस्तु अलग की ही नहीं जा सकती, यह उनका मत है।

श्री विजयशंकर मल्ल ने ‘काशी नागरी प्रचारिणी सभा’ के हीरक-जयंती अंक में लिखा है—

“आचार्य शुक्ल को अपने साहित्यिक आदर्श महाकवि तुलसीदास में मिले हैं। उनका ‘लोकादर्शवाद’, ‘अभिव्यक्तिवाद’

और 'सामंजस्यवाद' तुलसी के काव्य में अपने सर्वोत्तम रूप में प्रदर्शित हुआ है। शुक्लजी की आदर्श-चेतना की व्यापकता और सीमा-रेखा का सबसे अच्छा निर्देशक तुलसी का 'राम-चरितमानस' है।"

शुक्लजी के प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा के बाद यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि हिन्दी में सिद्धान्तवादी समीक्षा के आरम्भ काल में ही शुक्लजी ने उसका चरमोत्कर्ष दिखाया है। कहीं-कहीं शुक्लजी से सहमत होना कठिन है परन्तु ऐसे स्थलों पर भी शुक्लजी के विचारों से आलोक मिलता है।

बाबू गुलाबरायजी ने प्राचीन एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कर दोनों की विशेषताओं से निष्कर्ष निकालकर सिद्धान्तों के आचित्य को ग्रहण किया बाबू गुलाबराय] है। 'नवरस' के अतिरिक्त 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि पुस्तकों का प्रणयन कर उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों पर आलोक डालने के साथ ही कुछ नवीन सिद्धान्तों का भी समावेश कर हिन्दी के पाठकों को साहित्य समीक्षा के मोटे-मोटे सिद्धान्तों से परिचित कराया है तथा पाश्चात्य समीक्षा के भारतीय रूपों से भी उनका साक्षात्कार कराया है। उन्होंने दिखाया है कि अंग्रेजी में जो कुछ 'शैली' के सम्बन्ध में कहा गया है वही भारत में भी रीति, गुण, दोष और शब्दशक्तियों के रूप में मिल जाता है। पाश्चात्य सिद्धान्तों को पढ़ने से उन्हें भारतवर्ष के प्राचीन सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिली। भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के साम्य का दिखलाने के साथ ही उन्होंने उनके अन्तर को भी स्पष्ट किया है यथा 'काव्यानन्द के आध्यात्मिक पक्ष' सम्बन्धी अन्तर।

‘यद्यपि अलंकार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृति-कार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है, ।’ इस कथन से स्पष्टतः लक्षित होता है कि वे लेखक के माथ अलंकरण की प्रवृत्ति को अनिवार्य मानते हैं । किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि अलंकार को ही साध्य मान लिया जावे । गुलाबरायजी स्वयं ‘सिद्धान्त और अध्ययन’ के पृ० ३ पर लिखते हैं : ‘अलंकारों का महत्त्व अवश्य है किन्तु वे मूल पदार्थ का स्थान नहीं ले सकते हैं ।’

उनका कहना है कि “स्फुट पद्यों में प्रायः ऐसा रस-परिपाक नहीं होता जैसा कि प्रबन्धान्तर्गत पद्यों में अथवा नाटकों में ।” किन्तु यह विचार कुछ शीघ्रता से ही निरूपित किया जान पड़ता है क्योंकि केवल मुक्तक और प्रबन्धान्तर्गत के भेद से ही रस की प्रचुरता या कमी नहीं हुआ करती । लेखक की क्षमता पर रस का परिपाक निर्भर करता है । सूरदास जी के मुक्तकों में जैसा सुन्दर रस परिपाक हुआ है वैसा किसी भी प्रबन्धान्तर्गत शृंगार के पदों में नहीं दीखता । रस को वावू साहब “तमोगुण विमुक्त आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए, सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द” बतलाते हैं । उनका यह विचार ‘सिद्धान्त और अध्ययन’ के पृ० ४० पर व्यक्त हुआ है । ‘तमोगुण विमुक्त’ शब्द से उनका क्या अर्थ है नहीं कहा जा सकता, किन्तु यदि सहृदय के तमोगुण विमुक्त होने की बात कही गई है जो रस का ग्राहक होता है तो आज के व्यवहार में ऐसा ग्राहक मिलना कठिन है और ऐसे ग्राहक के न मिलने का अर्थ है ‘रस’ का न होना ।

‘कला जीवन के अर्थ’ सम्बन्धी उनके विचार माननीय हैं । हम सब उनके इस विचार से सहमत होंगे कि ‘कला का उदय

जीवन से है, उसका उद्देश्य जीवन की व्याख्या ही नहीं बरन् उसे दिशा भी देना है। वह जीवन में जीवन डालती है, वह स्वयं साधन न बनकर एक बृहत्तर उद्देश्य की साधिका होकर अपने को सार्थक बनाती है। वे कल्पना को स्वीकार करते हैं; किन्तु उसमें दो विरोधी बातों को एक साथ जोड़ना पसन्द नहीं करते। कल्पना पर विशद चर्चा करने के बाद भी उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'हवाई उड़ान' भी कल्पना के क्षेत्र में आ जाती है या नहीं।

उनकी दृष्टि में काव्य, संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय रूप देनेवाली अभिव्यक्ति है। यह परिभाषा यथार्थ से विमुख होकर केवल आदर्शपूर्ण है और सर्वत्र नहीं लागू हो सकती।

दुःखात्मक (ट्रजेडी) के सम्बंध में लिखते हुए अरस्तू की परिभाषा को उन्होंने संदिग्ध कहा है। अभिव्यंजनावाद के सम्बंध में उनके विचार कुछ बहुत सुलभ नहीं हैं। शायद इस उलभन का कारण अभिव्यंजनावाद का मूल रूप में अध्ययन न करना है। शुक्त जी को भी इस संबंध में वे नहीं समझ सके हैं। श्री गुलाबराय जी ने शायद यह नहीं समझा है कि शुक्त जी ने 'क्रोचे' की तुलना में केशव को केवल इसलिए रखा है कि वे दोनों ही कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कोई सौंदर्य नहीं देखते। यदि वाबू साहब की दृष्टि में केशवदास जी कल्पना की सहायता के बिना भी प्रकृति में सौंदर्य देखते दिखाई देते हों तो यह शायद उनका दृष्टि-दोष ही होगा क्योंकि केशव ने स्वयं ही कहा है : 'देखे मुख भावे, अनदेखई कमल चन्द्र, ताते मुख मुखे सखि, कमलो न चंद की।' शुक्त जी ने केशव के इस उद्धरण के साथ ही उनकी तुलना "क्रोचे" से की है और इस रूप में की गई तुलना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बाबू गुलाबराय जी ने 'व्यूटी इज द थ' के लेखक का नाम कालरिज कहा है किन्तु उसका लेखक कीट्स है। सब कुछ होने के बाद भी इतना स्पष्ट है कि उन्होंने व्यास-शैली में हास्य का पुट देने हुए पाश्चात्य और पौरात्य शास्त्र का तुलनात्मक ज्ञान जिस निष्पक्षता से कराया है वह विस्तार और निष्पक्षता बहुत थोड़े आलोचकों में ही मिलती है। बाबू श्यामसुन्दरदाम के साहित्यालोचन के बाद 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' प्रस्तुत कर बाबू साहब ने साहित्यप्रेमियों का बड़ा उपकार किया है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने सं० १९५० में 'हिन्दी साहित्य विमर्श' और सं० १९५१ में 'विश्व साहित्य' नामक पुस्तक प्रस्तुत कर साहित्यिक विधाओं का परिचय दिया है।

पदुमलाल [सौन्दर्य मानसिक अवस्था का विकास मात्र है, पुन्नालाल बख्शी] कला भावों का आविष्करण मात्र है। उनका यह मत सिद्धान्त-सम्बन्धी ही है। साहित्य का मूल' निरूपित करने के बाद साहित्य का विकास, साहित्य का सम्मिलन आदि पर विचार हुआ। 'विश्व साहित्य' के 'साहित्य का मूल' सम्बन्धी प्रकरण में उन्होंने कहा है : 'कुछ लोगों का ख्याल है कि जब देश में सर्वत्र शान्ति रहती है तभी कला की उन्नति होती है। पर ब्राउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शान्ति हो तब कला की उन्नति होगी ही नहीं।' 'हिन्दू साहित्य' में धर्म के तीन स्वरूपों पर सभ्यता के विकास पर तथा अन्य ऐसे प्रश्नों पर भी इस प्रकरण में विचार हुआ है। संसार के विकास की तीन सीढ़ियाँ, प्राचीन काल, मध्य युग, और नवोत्थान काल को 'साहित्य का विकास' दिखाने के लिए प्रस्तुत किया गया है, जिससे वैज्ञानिकता आ

गई है। काव्य के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य-कर्ता देश काल में प्रभावित रहता है, जिससे कल्पना हवाई उड़ान नहीं बनने पाती। 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' शब्द से बतलाकर उन्होंने इस बात का निदर्शन किया है कि नाटकों का मूल रूप मनुष्यों के अंतर्जगत में विद्यमान है। भारतीय नाटकों के साथ ही यूरोप में नाटकों का विकासक्रम क्या था, इसका भी परिचय कराया गया है। 'कला', 'विश्व भाषा' और 'साहित्य और धर्म' पर भी विचार हुआ है तथा तत्संबन्धी सिद्धान्तों का कथन हुआ है।

इस प्रकार इस पुस्तक में विश्व साहित्य की टोह लेकर बख्शी जी ने उनका परिचय तथा उनके सिद्धान्तों का बोध कराया है। भारतीय और पश्चिमी दृष्टि क्या है, यहां के लेखकों ने किस प्रकार के विचार दिये हैं तथा अन्य देश के लेखकों के क्या विचार हैं आदि प्रश्नों का तुलनात्मक अध्ययन, उद्धरणों के माध्यम से सुष्ट भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत समीक्षा शास्त्र व पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन कर श्री बलदेव जी ने हिन्दी जगन को संस्कृत और पाश्चात्य समीक्षाओं से परिचित कराया [बलदेव उपाध्याय] है। 'भारतीय साहित्य शास्त्र' नामक ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों का समग्र प्रस्तुत करने के साथ ही अपना मत भी दिया है तथा उसी स्थान पर पाश्चात्य सिद्धान्तों से उनकी तुलना भी की है। संस्कृत के आचार्य भामह, दंडी, वामन, आदि के विचारों की विस्तृत आलोचना कर उन्होंने रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय आदि के मुख्य तत्वों का निरूपण तथा उनके विकास की परंपरा का दिग्दर्शन कराया है। सिद्धान्तों के निरूपणार्थ उन्होंने संस्कृत के आचार्यों

के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया है तथा स्थान-स्थान पर उनसे उद्धरण दिये हैं। संस्कृत आचार्यों के मूल ग्रन्थों का ही नहीं, पाश्चात्य आचार्यों के ग्रन्थों का भी आलोचनात्मक अध्ययन कर उन्होंने अरस्तू, प्लेटो, होरेस आदि आचार्यों के मत से परिचित कराते हुए उनके भी उद्धरण दिये हैं। दर्शन के पंडित होने के कारण अध्ययन के साथ ही उनकी विवेचनात्मक बुद्धि भी जागरूक रही है और यही कारण है कि वे तर्क के आधार पर इन सिद्धान्तों का तत्त्वान्वेषण करने में सफल रहे हैं।

श्री बलदेव उपाध्याय जी ने सिद्धान्त के आचार्यों के मत के साथ ही अपने मत भी दिए हैं। सम्प्रदायों के उदय के सम्बन्ध में उन्होंने अलंकार सवस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध' से सहमति प्रकट की है। उनका मत है कि 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात कही है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। काव्य को वे विशिष्ट शब्द और अर्थ का मिला हुआ रूप मानते हैं। इस विशिष्टता का आना धर्म, व्यापार और व्यंग्य से ही सम्भव होता है, उनका यह मत टीकाकार "समुद्रबन्ध" के अनुसार ही है। 'औचित्य' पर लेखक का आग्रह दीखता है। 'भारतीय साहित्य-शास्त्र : द्वितीय भाग' के पृ० २६ पर उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि "औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं। औचित्य के बिना 'रस' में न तो सरसता है और न ध्वनि' में महत्ता। औचित्य के तथ्य पर ही साहित्य का समग्र सिद्धान्त आश्रित है।" वस्तुतः औचित्य के विरुद्ध होने पर काव्य का काव्यत्व नष्ट हो जाता है। बिना औचित्य के कोई भी व्यापार ठीक तरह से सम्पादित नहीं होता। फिर काव्य जो व्यापारप्रधान है उसमें औचित्य की अनिवार्यता तो है ही; किन्तु औचित्य पर ही समस्त सिद्धान्तों को आश्रित कहना ठीक नहीं लगता।

औचित्य को स्वयं ही रस, गुण आदि की आकांक्षा रहा करती है। उपाध्याय जी औचित्य पर सारे सिद्धांतों को आश्रित मानते हुए भी अभिनवगुप्त के इस सिद्धान्त को मानते दीखते हैं कि बिना रस के औचित्य की सत्ता अपना कोई मूल्य नहीं रखती है। उन्होंने वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद को भिन्न-भिन्न मानकर यह दिखाया है कि वक्रोक्ति में रस और ध्वनि दोनों को स्वीकार किया गया है; किन्तु अभिव्यंजनावाद में चमत्कार ही कोरे रूप में है। अभिव्यंजनावाद में नैतिकता को स्वीकृति नहीं मिल सकी है।

श्री रामदहिन मिश्र जी ने अपना मत निर्धारित करने के पूर्व संस्कृत और हिन्दी के काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया है। उन्होंने

साहित्य सिद्धान्तों का कथन ही नहीं किया है
रामदहिन मिश्र] बल्कि उसके निर्धारण में अनुसंधान, विश्लेषण
और विवेचन भी किया है। उनका यह विवेचन

जितना विस्तृत है उतना अन्यत्र नहीं दीखता। “काव्य में अप्रस्तुत योजना”, “काव्यालोक” आदि पुस्तकों में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं जो बड़े ही पुष्ट और प्रमाणिक हैं। अपितु उसमें अनुकूल एक के साथ रुचि दूसरे का सहृदय श्लाघ्य सामंजस्य भी स्थापित होना कहा है ? आज के साहित्य का स्वाद लेने के लिए वे संस्कृत के काव्य-शास्त्रों और पाश्चात्य सिद्धान्तों, दोनों के ही दृष्टिकोण को लेना आवश्यक ठहराते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से काव्य-शास्त्र का नया प्रतिसंस्कार करना ही उन्हें ठीक लगता है।

काव्य की परिभाषा को वे विवादग्रस्त इसलिए मानते हैं कि उसकी व्यापकता परिभाषा में बँध नहीं सकती; किन्तु फिर भी उसे “रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द” और “रसात्मक वाक्य” की विशेषता से परिवेष्टित मानते हैं। काव्य के कारण रूप में “प्रतिभा” को मान्यता देते हुए वे “काव्यालोक” के द्वितीय उद्योत के

पृ० ३० पर कहते हैं कि “नई-नई स्फूर्ति, नव-नव उन्मेष, टटकी-टटकी सूझ को प्रतिभा कहते हैं।”

रस के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों का मत देने के बाद उन्होंने कहा है कि भरत से लेकर ध्वनिकार तक रस से नाट्य रस ही समझा जाता था, पर नाटक के काव्यांग होने से काव्यमात्र में रस की स्थिति विवेच्य है। साहित्य-सिद्धान्तों का परिचय देने में उनका उद्देश्य यह बनलाना रहा है कि साहित्य की बदली हुई दुनिया में हम अपने साहित्य को बदलें; पर ऐसा न बदलें कि वह पहचाना भी न जाय। संस्कृत के साहित्य के आलोक में ही वे पाश्चात्य सिद्धान्तों को भी देखना ठीक समझते हैं। अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने काव्यालोक को पाँच उद्योतों : काव्य साहित्य, अर्थ विचार, रस रीति, दृश्य काव्य और अलंकार में बाँट दिया है। संस्कृत के आचार्यों का मत देने के बाद उन्होंने आधुनिक समीक्षकों, साथ ही कृतिकारों : पं० महादेवी : के भी सिद्धान्त-सम्बन्धी मत प्रस्तुत किये हैं।

व्यापक और उदार दृष्टि से ‘सुधांशु’ जी ने काव्य की समस्याओं को देखने का प्रयास किया है। अंग्रेजी और संस्कृत

सिद्धान्तों का अध्ययन कर जिस निष्कर्ष पर लक्ष्मीनारायण सिंह वे पहुँच सके हैं, उन्हीं के आधार पर उन्होंने

[सुधांशु] हिन्दी कविता का परीक्षण किया है, साथ ही

हिन्दी में काव्य-सिद्धान्तों को मौलिक रूप में रक्खा है। काव्य की समस्याओं और सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र पद्धति से आपने खुली दृष्टि से विचार किया है। अपनी मान्यताओं को “काव्य में अभिव्यंजनावाद” और ‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त’ में प्रतिपादित कर उन्होंने अपनी ईमानदारी को स्पष्ट किया है।

“काव्य में अभिव्यंजनावाद” के पृ० २७ पर ‘अभिव्यंजना और कला’ के प्रसंग में सुधांशु जी ने कहा है : “काव्य विधान के लिए हम निरलंकृत अवस्था में सत्य को बाहर नहीं निकालते ।” उनके इस कथन का अर्थ है कि सत्य को अलंकृत करके ही अभिव्यक्त किया जाता है; किन्तु काव्य के क्षेत्र में, कल्पनागत व अनुभूतिगत होने के कारण सत्य पूर्णता को प्राप्त रहता है, जिसे व्यक्त करने के लिए अलंकार की आवश्यकता नहीं रहती । अलंकार तो त्रुटि को ढकने के लिये ही अनिवार्य होता है । जो पूर्ण हैं उसके लिए अलंकार की अनिवार्यता नहीं रहती ।

उनके अनुसार काव्यानुभूति में प्रेक्षण का अनिवार्य गुण रहता है; किन्तु यह गुण अनुभूति का नहीं बल्कि अभिव्यक्ति का है । अनुभूति सबमें होती है; किन्तु प्रेक्षण सबमें नहीं रहता और यही कारण है कि सब एक-सी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते । अनुभूति को वे दो प्रकार का मानते हैं : १—काव्यानुभूति, जिसमें प्रकाशन का गुण भी रहता है अर्थात् जो कवि से सम्बन्धित है । २—रसानुभूति, जो पाठक या श्रोतामात्र में रहती है और जिसका होना तब सम्भव होता है जब पाठक रसमग्न अवस्था में हो ।

काव्य में अभिव्यंजनावाद के पृ० ८६ पर उन्होंने अलंकार के सम्बन्ध में कहते हुये लिखा है : “जिस अलंकार-विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती उसमें अलंकार मानने या मनाने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए ।” यह कथन उचित है । यदि अलंकार में कल्पना न रहे तो भास के अनुसार वह वार्ता होगी, जो अलंकार नहीं है । अतः कल्पना आवश्यक है ।

“जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त” के पृ० ४५ पर काव्य का स्थान ज्ञान से ऊँचा बतलाते हुये वे लिखते हैं : “कवि अथवा

कलाकारों से हम ज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, वरन उनसे तो हम शक्ति ग्रहण करते हैं, प्रेरणा प्राप्त करते हैं।” काव्य अपनी इसी शक्ति के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर है और वस्तुतः वह ज्ञान से ऊँचा है। प्र० ७१ पर उन्होंने रस के सम्बन्ध में खोजपूर्ण बातें कही हैं। उनके अनुसार “काव्य का पाठक” यह समझता है कि आनन्द उसे काव्य से मिल रहा है पर मिलता उसे अपने ही मन के ओज से है।” बात बहुत ठीक है। काव्य मन के इस ओज को जाग्रत करने भर का काम ही करता है। इन जाग्रत भावों को ही पाठक या श्रोता प्राप्त करते हैं।

लय और छंद के सम्बन्ध में सुधांशु जी का कहना है कि “लय और छंद के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय, तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है और कवि को अनुरूप कीर्ति प्राप्त होती है।” उनके अनुसार कविता में लय का बलिदान नहीं किया जा सकता। वे कवि का काम स्वाभाविक छंदों को ढूँढ़ना बतलाते हैं, न कि छंदों को तिलांजलि देना। किन्तु छंदों के मोह में वे भाव की हत्या करने का आदेश भी नहीं देते। भावाभिव्यक्ति करनेवाले छंद ही उन्हें मान्य हैं। इस प्रकार उनके विचारों में मौलिकता है और इस मौलिकता से वे स्मरणीय हैं। पुस्तकों के निबन्ध एक तारतम्य में नहीं हैं फिर भी सिद्धान्त-कथन सबका उद्देश्य है।

“हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद” में जिस निष्पक्षता से श्री विजयशंकर मल्ल ने प्रगतिवाद-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण किया है, वह निष्पक्षता कम समीक्षकों में विजयशंकर मल्ल] दीखती है। पुस्तक के आरम्भ में “काव्य और लोक” पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य को लोक की वस्तु और उसके कर्ता कवि को संवेदनशील प्राणी कहा

है। उन्होंने प्रगतिवादियों की “परिस्थिति” पर विचार किया है और किसी प्रवृत्ति-विशेष के अध्ययन के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के परिचय को आवश्यक कहा है। “छायावाद युग” की रचनाएँ स्वच्छन्द और निराशावादी क्यों हुईं, “इस प्रश्न के उत्तर में सन् १४ के महायुद्ध के पश्चात् की भारतीय राजनीतिक गतिविधि और अन्य परिस्थितियों का प्रभाव दिखाया गया है।” “प्रगतिवाद का इतिहास” देने के बाद उसके “काव्य सिद्धान्त”, “काव्य के विषय” आदि पर विचार करने के साथ काव्य-सिद्धान्त में प्रगतिवादी-आलोचना-प्रणाली पर भी विचार हुआ है। श्री मल्लजी, आलोच्य को उसकी परिस्थितियों के बीच देखने के पक्षपाती हैं। मार्क्सवाद, ‘वाद’ पर विशेष मत की दृष्टि से किसी आलोच्य को देखता है, जो खतरे से खाली नहीं है। प्रगतिवाद की इस कमजोरी को स्पष्ट करने के साथ ही, उसके विभिन्न पक्षों पर जैसा विचार उन्होंने किया है, वह स्तुत्य है।

आलोचना की प्राचीन और नवीन दोनों परिपाटियों पर दृष्टि रखते हुए पंडित विश्वनाथप्रसादजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी

विचार प्रकट किए हैं। भूषण ग्रंथावली के प्रथम विश्वनाथ प्रसाद मिश्र] संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने पृ० ६ पर

लिखा है : “हम पुस्तक में सिद्धान्त की बातें लिखना ही पसन्द करते हैं, विवाद के लिए तो पत्रिकायें हैं ही।” इस प्रकार उनकी रुचि सैद्धान्तिक समीक्षा की ओर विशेष रूप से रही है और पुस्तक रूप में ‘वाङ्मय विमर्श’, ‘भूषण ग्रंथावली’ की भूमिका और ‘पद्माकर पंचामृत’ में उन्होंने सिद्धान्त सम्बन्धी अपने विचार दिए हैं। पंडितजी आरंभ से ही आलोचक की दृष्टि लेकर साहित्य क्षेत्र में आए हैं और उन्होंने सिद्धान्तों-तथा साहित्यिक मान्यताओं पर अपना विचार स्थिर किया है।

उन्हें श्रीरामचन्द्र शुक्ल के सिद्धान्त अधिक उपयुक्त लगे हैं; किन्तु जहाँ वे अनुपयुक्त दीख पड़े हैं वहाँ उन्होंने उनका विरोध भी किया है। पंडित विश्वनाथप्रसादजी, आचार्य शुक्ल के सिद्धान्तों का ही व्यवहार करते हैं; किन्तु अन्धानुकरण के रूप में नहीं।

वे मुक्तक और प्रबन्ध पर विचार करते हुए पद्माकर पंचामृत' के पृ० २४ पर लिखते हैं कि “मुक्तक रचना में साहित्य-शास्त्र में गिनाई हुई रस सामग्री यदि पूर्ण हो गई हो तो कवि का सफलता मिल जाना सरल है पर प्रबन्ध-रचना में केवल रस सामग्री का एकत्र हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें प्रवाह का भी ध्यान रखना पड़ता है।” अलंकार के सम्बन्ध में उन्हें 'वामन' का मत ठीक लगता है और वे “हारादिवदलंकारः” को नहीं बल्कि “सौन्दर्यमलंकारः” को स्वीकृति देते दीखते हैं। वे उस अलंकार को नहीं मानते जो हिन्दी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हो। हिन्दी भाषा की प्रकृति से विरोध होने पर अलंकार का अलंकारत्व ही न रह जावेगा। अतः यह विरोध वर्जित है। “भूषण ग्रन्थावली” में उन्होंने लिखा है कि “दो प्रकार के काव्य विशेष रूप से स्थायी रह सकते हैं। एक भक्तिकाव्य और दूसरे वीरकाव्य, क्योंकि भक्तिकाव्य का सम्बन्ध ईश्वर से व वीरकाव्य का व्यावहारिक जगत् से होता है।” किन्तु यह तर्क ठीक नहीं जँचता। काव्य के स्थायित्व के लिए रस की प्रधानता और उसका स्थायित्व देखना चाहिए न कि ईश्वर को और व्यावहारिक जगत् के सम्बन्ध को।

वाङ्मय विमर्श के पृ० ६ पर काव्य का चरम उद्देश्य वृत्तियों का शोधन और परिष्कार स्वीकार करते हुए उन्होंने काव्य में रस-मग्नता का होना अनिवार्य ठहराया है। उक्त पुस्तक के पृ० १५६ पर वे लिखते हैं कि “आलम्बन के सम्बन्ध में जिन लोगों ने उच्च और नीच का प्रश्न खड़ा किया है उन्होंने काव्य अथवा भाव को

केवल बड़े लोगों के संकेत पर नाचनेवाला समझ रखा है। यह धारणा ठीक नहीं लगती क्योंकि साहित्य और जीवन का सम्बन्ध है, और हमारे जीवन में उपस्थित उच्च और नीच का भेद साहित्य में आवेगा ही। अतः आलम्बन भी उच्च और नीच तब तक होंगे जब तक यह भेद जीवन से मिट नहीं जाता। पृ० ४० पर वे लिखते हैं कि महाकाव्य के सम्बन्ध में यदि “मंगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा को क्षति नहीं होती पर अपनी परम्परा भी कोई वस्तु होती है।” इस कथन के अनुसार सिद्ध है कि पंडित जी को प्राचीनता और परम्परा का मोह है। शुक्ल जी के सिद्धान्तों को मानते हुए भी जहाँ उन्हें उनके विचार ठीक नहीं जँचते, वे विरोध करते हैं। शुक्ल जी का रहस्यवाद-सम्बन्धी विचार इस प्रकार है : “स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी ‘वाद’ के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।” रहस्यवाद के सम्बन्ध में पंडित विश्वनाथप्रसाद जी, शुक्ल जी से भिन्न दिखते हैं। इनके अनुसार “संसार में जहाँ तक ज्ञात है उसके आगे और भी कुछ है या नहीं। इसकी जिज्ञासा जीवन में विचारशील लोगों को बराबर हुआ करती है। .. कहना नहीं होगा कि बुद्धि की यह यात्रा दर्शन-शास्त्र के मार्ग पर होती है। हृदय का योग ज्ञात ही के साथ हो सकता है, अज्ञात से नहीं।” अतः स्पष्ट है कि हृदय-सम्बन्धी कार्य के क्षेत्र में पंडित जी रहस्य-भावना को एकदम अस्वीकार करते हैं जब कि शुक्ल जी ‘वाद’

के रूप में ही अस्वीकार करते हैं, काव्य में नहीं। इस प्रकार साहित्य के प्रत्येक अंग से निष्पक्षतापूर्वक उन्होंने पाठकों को परिचित कराया है।

सैद्धान्तिक समीक्षा लिखनेवाले समीक्षक, जो सिद्धान्तों को स्थापित या एकत्रित कर उनकी व्याख्या आदि से परिचित कराते हैं, हिन्दी जगत् में बहुत कम हुए हैं। जो हजारीप्रसाद द्विवेदी] हुए भी हैं उनमें से अधिकांश शास्त्र के प्रति, साथ ही संस्कृत आचार्यों के प्रति मोह होने के कारण सिद्धान्त के औचित्य पर अधिक ध्यान न दे सके हैं, किन्तु पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने उदार दृष्टिकोण लेकर विभिन्न सिद्धान्तों की परीक्षा की है और उन पर निष्पक्ष भाव से अपना मत दिया है। स्फुट लेखों के रूप में तो उन्होंने सिद्धान्तों की चर्चा की ही है, साथ ही “साहित्य का साथी” नामक पुस्तक में सिद्धान्तों को सरल और बोधगम्य बनाकर रखने में भी वे सफल हुए हैं। संस्कृत सिद्धान्तों को मूलरूप में पढ़ने के साथ ही उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों को भी उनके मूल स्रोतों से ही देखा है। तुलनात्मक अध्ययन के कारण वे साहित्यिक सिद्धान्तों को सुलभाकर प्रस्तुत कर सके हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के साथ रहने के कारण वे अधिक मानवतावादी हो गये हैं और मार्क्स आदि पर विचार करने के कारण उन्होंने जीवन और जगत् को नवीन दृष्टि से समझा है। प्राचीन और नवीन का समन्वय करके ही उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

साहित्य को वे साधारतः तीन प्रकार का मानते हैं, यथा : सूचनात्मक, विवेचनात्मक और रचनात्मक साहित्य। यह साहित्य का साधारण अर्थ है, विशिष्ट अर्थ में साहित्य, रचनात्मक साहित्य के लिए ही प्रयुक्त होता है। इसे वे भी मानते हैं। रचनात्मक

साहित्य के सम्बन्ध में “साहित्य का सार्थी” के पृ० ४३ पर वे कहते हैं कि “वे हमारे ही अनुभवों के ताने-बाने से एक नए रस-लोक की रचना है।” इस कथन में “रसलोक” बतलाता है कि रस की ओर द्विवेदी जी का आग्रह अधिक है। पृ० ४ पर वे लिखते हैं : “साहित्य मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है।” उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे साहित्य की उत्पत्ति मानव जीवन से ही मानते हैं। इस कथन का और भी स्पष्टीकरण पृ० ५ पर किया गया है : “साहित्य का विचार उसकी अच्छाई या बुराई का निर्णय, और उसकी महत्ता की जाँच के लिए हमें सब समय किसी शास्त्र के या किसी बड़े आदमी के वाक्य को अवलंब मानने की जरूरत नहीं। यद्यपि यह बात अनावश्यक नहीं है।” उनके इस कथन में कल्पना की चर्चा नहीं दीखती; किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है क्योंकि इस कथन के आगे ही वे मनुष्य को विचारक्षेत्र में भी सामाजिक बतलाकर बताते हैं कि मनुष्य उस साहित्य को ही पाठक रूप में अच्छा समझता है जिसमें कल्पना होती है। वह “कल्पना द्वारा एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने में रस पाता है जो वास्तविक दुनिया के दोषों से रहित हो।” पृ० ५६ पर वे लिखते हैं कि “काव्य की कल्पना जब विश्वास का रूप ले लेती है तो काव्य में पुराण हो जाता है। अतः कल्पना अनिवार्य तत्व है।”

किसी पुस्तक की विवेचना के लिए पंडित जी चार बातों का विचार परमावश्यक मानते हैं : १—लेखक २—वक्तव्य वस्तु ३—कारीगरी ४—पाठक। द्विवेदी जी ने जिस कारीगरी पर विचार करना आवश्यक कहा है वह रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे काव्य के गुणों में रीति को भी महत्व देते हैं। “काव्य की आत्मा” के रूप में रस ध्वनि

को स्वीकृति देते हुए पृष्ठ ४० पर वे लिखते हैं : “जब ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं तो वस्तुतः उनका अभिप्राय रस ध्वनि से होता है।” वे अलंकार को काव्य का बहिरंग मानते हैं। रस के साथ विभाव, अनुभाव आदि का व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध ही उन्हें मान्य है।

लोक प्रचलित अर्थ में उनके अनुसार कविता वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, पद-लालित्य हो और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो। उनकी दृष्टि में उत्तम व्यंग्य या ध्वनि की सहायता से मनुष्य को स्वार्थ बुद्धि के ऊपर उठाना, उसको इह-लोक की संकीर्णता से ऊपर उठाकर सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित करना ही कवि का उद्देश्य है और; जिस कविता में यह सब कुछ पाया जावे, वही उत्तम कविता है।

उपन्यास और काव्य का भेद बतलाते हुए वे कहते हैं कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुलाकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता; जब कि काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है। पंडित जी के इन सिद्धान्तों में तर्क दीखता है। वे जीवन के साथ सारे सिद्धान्तों को देखकर सिद्धान्तों को व्यवहारिकता देकर आलोचना का प्रणयन करते हैं। इससे आलोचना-साहित्य को नई दृष्टि मिली है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में कार्य करनेवाले कुछ और समीक्षक भी हैं और उन्होंने भी अपनी दृष्टि के अनुसार प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन, नवीन सिद्धान्तों के विविध] साथ उनका सामंजस्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ उनकी तुलना की है। “काव्य कलना”, “छायावाद व रहस्यवाद” आदि के द्वारा हमें श्री गंगाप्रसाद पांडे के विचारों की सूचना मिलती है। वे सुरुचि के आधार पर

समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने दिखाया है कि छायावाद में भी संघर्ष और जागृति है। उनकी दृष्टि एकांगी कही जा सकती है। नए काव्य पर लिखते हुए उन्होंने कहा है कि “कला को स्थूलता और अश्लीलता की ओर घसीटा जा रहा है। लोकप्रियता की भ्रम में काव्य के उपादान भी स्थूल माने जाने लगे हैं, ... कुछ नए व्यक्ति अपने को प्रगतिशील साहित्यिकों की श्रेणी में रख कर सस्ती ख्याति भी कमा रहे हैं।” उनका यह कथन ठीक नहीं लगता। न तो वर्तमान साहित्य में अश्लीलता ही है और न तो प्रगतिशीलता का हल्ला मचाने से ख्याति ही मिलती है।

श्री भगीरथ मिश्रजी ने “हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास” और “काव्य में अप्रस्तुत योजना” नामक दो पुस्तकें दी हैं। इनमें साहित्य-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों तथा वादों पर विचार प्रकट किया है। सैद्धान्तिक विचारों को मिश्रजी ने संस्कृत और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के आधार पर देखा है तथा तत्सम्बन्धी निर्णय दिया है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में श्री राकेश गुप्त की पी० एच० डी० की थीसिस “सायकालाजिकल स्टडीज़ इन रस” अर्थात् “रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन” तथा श्री रामनरेश वर्मा की “वक्रोक्ति और अभिव्यंजना” भी उल्लेखनीय हैं। श्री राकेश गुप्त ने आचार्यों के रस-सम्बन्धी सभी तर्कों का मनोवैज्ञानिक आधार पर मूल्यांकन किया है। “साहित्य में रस” सम्बन्धी उनके तर्क मौलिक हैं। उन्होंने यह दिखाया है कि रस अपने मनोभावों द्वारा उत्पन्न होते हैं और उनके तत्त्वों के सम्बन्ध में कोई रहस्य की भावना नहीं है। रस-सम्बन्धी उनकी विशद दृष्टि इस पुस्तक में दीख पड़ती है। श्री रामनरेश वर्मा ने “साहित्य-शास्त्र का इतिहास” प्रकरण में जो नवीन ऐतिहासिक

स्थापनायें की हैं वे दृष्टव्य हैं। प्राचीन परंपरा के आधार पर वक्रोक्ति पर विचार करने के साथ ही उन्होंने उसका सम्वन्ध ध्वनि से भी स्पष्ट किया है। वर्माजी ने प्राचीन और नवीन पद्धतियों का अध्ययन करने के बाद हिन्दी साहित्य को भारतीय सिद्धान्तों से परिचित कराया है और भारतीय दर्शन की दृष्टि से क्रोचे के दर्शन की समीक्षा की है। श्री रामचहोरी शुक्ल के 'काव्य-प्रदीप' तथा श्री रामरतन भटनागर के "रहस्यवाद" को भी इस प्रसंग में भुलाया नहीं जा सकता।

श्री रमाशंकर शुक्ल "रसाल" ने "अलंकारपीयूष" और "आलोचनादर्श" नामक पुस्तकों में अपने विचार व्यक्त किये हैं। "अलंकार पीयूष" में अलंकार-शास्त्र पर अधिक ध्यान दिया गया है। उन्होंने अलंकार के महत्व का तथा रस, ध्वनि आदि के साथ उसके सम्वन्ध का निश्चय भी किया है। वर्गीकरण का नवीन रूप देने के अतिरिक्त "वर्णकौतुक" "वैचित्र्यविनोद" "व्यवस्थावैचित्र्य" "वचनवक्रता" तथा 'उभयालंकार' से भिन्न 'मित्रालंकार' का भी कथन किया है। "रसाल" जी का यह कार्य श्लाघ्य है।

डाक्टर यस० पी० खत्री महोदय ने 'काव्य की परख' और 'नाटक की परख' के द्वारा काव्य-संवन्धी तथा नाट्य-सम्वन्धी अंग्रेजी सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत किया है। "नाटक की परख" में दुखान्त, सुखान्त तथा एकांकी नाटकों की प्रगति, उसके विशिष्ट तत्वों तथा मूल के उद्देश्यों का विशद वर्णन प्रस्तुत कर उन्होंने साहित्यिकों को लाभान्वित किया है। नाटक को उन्होंने जीवन का अनुकरण तथा उसका प्रतिबिम्ब कहा है। दुखान्त व सुखान्त के मिले हुए मिश्रान्त रूप को वे अधिक मान्यता देते हैं।

श्री शिवनन्दनजी के “काव्यालोचन के सिद्धान्त” तथा श्री सूर्यकान्त शास्त्री के ‘साहित्य मीमांसा’ के द्वारा भी साहित्यिक सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन कराके तथा पृथक् रूप में सिद्धान्तों की चर्चा के द्वारा इन लेखकों ने जो कार्य किया है वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनकी इस सेवा के लिए हिन्दी-जगत् उनका आभारी रहेगा और वे भी साहित्य जगत में मान्यता पाते रहेंगे।

शुक्ल जी के वाद के विभिन्न समीक्षकों की समीक्षा कृतियों तथा उनके द्वारा मान्य सिद्धान्तों को देख लेने के पश्चात् हमें साहित्यान्तर्गत स्थित सिद्धान्तों के विकास की विकास की दिशा] दिशा का परिचय मिलता है। श्री रामचन्द्र शुक्ल

द्वारा उद्भावित काव्य-सिद्धान्त विकासोन्मुख हैं अथवा हासोन्मुख, इस प्रश्न का निर्णय तभी हो सकता है जब हम एक ही विषय पर उनके विचार तथा उनके वाद के अन्य समीक्षकों के विचार का तुलनात्मक अध्ययन करके देखें। इस प्रकार के अध्ययन के लिए हम शुक्लजी तथा परवर्ती आलोचकों के काव्य, काव्यहेतु, कल्पना, प्रेक्षणीयता, रहस्यवाद और साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों पर दृष्टि रखेंगे।

शुक्ल जी ने कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है : “भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है।” रस-दशा को स्वीकृति देते हुए वे कविता में हृदय की मुक्तावस्था का अनुभव कराने का विशेष गुण मानते हैं। उनके अनुसार कविता लोक में लीन कराने की शक्ति रखती है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि ‘लोक प्रचलित अर्थ में कविता वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, पद-लालित्य हो और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो।’ शुक्ल जी के हृदय की मुक्तावस्था

में भी प्रयोजन निहित रखते हैं; किन्तु द्विवेदी जी कविता में प्रयोजन की सीमा की समाप्ति मानते हैं। यह अन्तर ध्यान देनेयोग्य है।

शुक्ल जी ने काव्य में रस-सिद्धान्त को ही अधिक मान्य ठहराया है। औचित्य सिद्धान्त पर, जो सभी व्यापारों का मूल है, कुछ अधिक दृष्टि डालते शुक्ल जी नहीं दिखाई पड़ते। श्री बलदेव उपाध्याय ने कहा है कि 'औचित्य के मूलाधार पर ध्वनि और रस के तत्त्व अवलम्बित हैं। औचित्य के बिना रस में न तो सरलता है, न ध्वनि में महत्ता।' जिस औचित्य का इतना महत्त्व है उसे शुक्ल जी ने कुछ अधिक महत्त्व नहीं दिया। किन्तु उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में जो दिशा दी, उसके बल पर औचित्य सिद्धान्त ब्रूट न सका और श्री बलदेव जी, श्री पोद्दार जी आदि समीक्षकों द्वारा उस पर भी प्रकाश डाला गया।

कल्पना के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने 'बेपर की उड़ान' भरनेवाली कल्पना को वर्जित और हेय कहा है। श्री गुलाबराय जी ने उसके आगे दो विरोधी बातों को एक साथ न जोड़ने की सीमा भी निर्धारित की है। अन्य समीक्षकों ने भी कल्पना के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है।

जहाँ तक 'प्रेषण कला' का प्रश्न है शुक्ल जी ने कला के लक्ष्य के रूप में उसे स्वीकार किया है। 'सुधांशु' जी के अनुसार काव्यानुभूति में प्रेषण का अनिवार्य गुण रहता है; किन्तु यह गुण अनुभूति का नहीं बल्कि अभिव्यक्ति का है। अनुभूति सवमें होती है; किन्तु प्रेषण सवमें नहीं रहता और यही कारण है कि सब एक-सी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। शुक्ल जी ने यह नहीं बतलाया है कि यह प्रेषणीयता किसका गुण है; किन्तु सुधांशु जी ने इसे तो स्पष्ट किया ही है साथ ही प्रेषण को अभिव्यक्ति का गुण बतलाकर उसे अधिक बोधगम्य बना दिया है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि उसे हम ... एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। “पंडित विश्वनाथ प्रसादजी रहस्यवाद को दर्शन की चीज मानते हैं तथा काव्य में, जहाँ हृदय पक्ष की प्रधानता है, रहस्यवाद का आना नहीं स्वीकार करते। अतः काव्य के क्षेत्र में रहस्य नहीं हो सकता। यदि कोई रहस्य संभव है तो वह ज्ञात के प्रति जिज्ञासा के रूप में ही हो सकता है।

“साधारणीकरण” को श्री श्यामसुन्दरदासजी. पं० केशव प्रसाद मिश्र के अनुसार योग की “मधुमती भूमिका” से सम्बन्धित मानते हैं; किन्तु शुक्लजी अभिनवगुप्त के मत के अनुसार व्यक्ति में उसे स्वीकार करते हैं। पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति या वस्तु आती है वह काव्य के “आश्रय” के आलम्बन के साथ ही सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन भी हो जाता है और इसी को वे साधारणीकरण की संज्ञा देते हैं। इससे भी आगे डा० नगेन्द्र के अनुसार, विषय अज्ञात रहता है; किन्तु कवि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल उसका वर्णन करते हैं उसी का साधारणीकरण होता है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी तथा परवर्ती समीक्षकों के विभिन्न विषयक विचारों की तुलना के बाद हमें स्पष्ट ही इस क्षेत्र की समीक्षा विकासोन्मुखी दीखती है। वर्तमान समीक्षकों का मत कई विषयों पर शुक्लजी से मेल नहीं खाता अस्तु समीक्षा का रूप कुछ परिवर्तित हुआ है, समीक्षा उसी स्थान पर नहीं है जहाँ शुक्लजी के समय में थी। परवर्ती समीक्षकों के विचार जहाँ

शुक्लजी के विरुद्ध जाते हैं वहाँ अधिक तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक भी हैं। उनमें तर्क का यह रूप और उनकी वैज्ञानिकता हमें वाध्य करती है कि हम उन विचारों को मान्य ठहरावें। इन सबको देखते हुए हम कभी भी परवर्ती समीक्षकों की समीक्षा में हास का चिह्न नहीं निकाल सकते क्योंकि हास का आग्रह तर्क और वैज्ञानिकता के विपरीत होता है। जब हम “शुक्लोत्तर समीक्षा” को विकासोन्मुखी कहते हैं तो उससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि यह समीक्षा शुक्लजी की समीक्षा से श्रेष्ठ है। विकास परिवर्तन का सूचक है, न कि गुण का। गुण में कौन-सी समीक्षा श्रेष्ठ है और कौन-सी नहीं, यह प्रश्न अलग है। समीक्षा-क्षेत्र में होनेवाला परिवर्तन ही उसके विकासोन्मुख होने की सूचना देता है। इससे समीक्षा क्षेत्र के उज्ज्वल भविष्य की सूचना मिलती है।

— — —

अध्याय ३

: ऐतिहासिक समीक्षा :

आलोच्य को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखना अर्थात् उसके पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों की तुलना में देखना, ऐतिहासिक समीक्षा का कार्य है। यह आधुनिकता का प्रभाव है। आधुनिक चित्तवृत्ति सब कुछ को एक निश्चित विकास-परम्परा के भीतर से विकसित मानने लगी है। इसके परिणामस्वरूप कृतियों की आलोचना के लिए इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाने लगा है और इस ज्ञान की सहायता से ही कृति के विषय, कृतिकार की परिस्थिति तथा उसके पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों का अध्ययन किया जाने लगा है। एक प्रकार के लेखकों और एक प्रकार की कृतियों का वर्गीकरण करके उनकी मूल मनोवृत्ति, उनके वातावरण और उनकी परिस्थिति के साथ उनकी तुलना करना आलोच्य के आलोचनार्थ समीक्षक को आवश्यक हो गया। उन्हें एक ओर परिस्थितियों, घटनाओं तथा अन्य प्रभावों को जानने के लिए इतिहास का अध्ययन आवश्यक हो गया और दूसरी ओर लेखकों की मनोवृत्ति को समझने के लिए मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार इतिहास के विषय को लेकर लिखनेवाले लेखकों की कृति की समीक्षा “ऐतिहासिक समीक्षा” के नाम से पुकारी गई। समीक्षकों ने यह दिखलाते का प्रयत्न किया कि एक वर्ग दूसरे से क्यों भिन्न है और दूसरा वर्ग क्यों पहले से अलग माना जाता है। किस वर्ग या किस लेखक के वाद

कौन-सा वर्ग या लेखक आया. एक मनोवृत्ति की कवितायें कब तक लिखी गईं आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए इन समीक्षकों ने कुछ वर्षों को एक युग मानकर साहित्य के जीवन-काल को विभिन्न युगों में विभाजित किया। मित्रवन्धुओं को संवत् १३४३ के पूर्व का कोई हिन्दी ग्रन्थ न मिला इससे उन्होंने इस समय को पूर्वारम्भिक काल कहना ठीक समझा। इस समय बहुत थोड़ी कवितायें प्राप्त थीं अर्थात् संवत् ७०० से १३४७ का काल पूर्वारम्भिक काल कहलाया। संवत् १३४४ से १४४४ तक थोड़ी अधिक कवितायें मिलीं अतः उन्हें उत्तरारम्भिक काल कहा गया। कविता की संख्या पर ही १४४३ से १५०७ तक को माध्यमिक काल तथा १५६१ से १६८० तक को प्रौढ़ माध्यमिक काल कहा गया। १६८१ से १७६० तक को पूर्वालंकृत काल और १७६१ से १८२६ को उत्तरालंकृत काल कहा गया। इस समय सालंकार भाषा लिखी जाती थी। अज्ञात कवियों को इसी उत्तरालंकृत काल में मान लिया गया है। संवत् १८६० से १९२५ तक को परिवर्तन काल तथा १९२६ से अब तक को आधुनिक काल की संज्ञा मिली है। शुक्ल जो ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का नए ढंग से काल-विभाजन किया और प्रवृत्तियों के आधार पर उसे वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीत काल तथा आधुनिक काल या गद्य काल आदि में विभक्त किया।

साहित्य में मान्य सिद्धान्तों को भी इतिहास के आधार पर देखा गया। उनके विकास की दशा क्या थी, इस पर भी इन समीक्षकों ने विचार किया। इस प्रकार के समीक्षक के रूप में सबसे पहले फ्रांसीसी आलोचक 'टेन' का उल्लेख होना चाहिए। 'टेन' महोदय ने ही ऐतिहासिक समीक्षा का सूत्रपात किया और बतलाया कि कवि या लेखक अपनी जाति, परिस्थिति, और काल

की उपज होता है। जाति का अर्थ है जाति की परम्परागत मनोवृत्ति और स्वभाव। परिस्थिति के अन्तर्गत लेखक के अपने वासस्थान की जलवायु, वातावरण, राजनीतिक व सामाजिक अवस्थाओं तथा अन्य ऐसी ही स्थितियों को समझा गया है। काल से उनका तात्पर्य कवि या लेखक के समय की मूलभावना या विकास की भावना से है। ऐतिहासिक समीक्षक अपनी आलोचना में उसी जाति, परिस्थिति और काल के बीच आलोच्य को देखता है जिसमें आलोच्य का जन्म या आविर्भाव हुआ था। उसे यह भी देखना पड़ता है कि कवि या लेखक की मौलिक विशेषता क्या थी। ऐतिहासिक समीक्षा में आलोच्य के मूल्यांकन के लिए आप ही आप कवि या लेखक की मनोवृत्ति को भी ढूँढ़ लिया जाता है। इस समीक्षा में देखना होता है कि समाज ने उन्हें क्या दिया है और समाज को उनसे क्या प्राप्त हो सका है। भारतवर्ष में भी समीक्षकों ने ऐसी आलोचनायें की हैं। इन आलोचकों में प्रमुख हैं : श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री पीताम्बरदत्त बड़-ध्वाल, श्री रामकुमार वर्मा, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में जो कार्य शुक्ल जी के द्वारा सम्पादित हुए उनका विकास परवर्ती समीक्षकों द्वारा हुआ।

हिन्दी जगत में ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल] भी वैज्ञानिक समीक्षा सर्वप्रथम शुक्ल जी के द्वारा ही हुई। शिव सिंह संगर और मिश्र-बन्धुओं द्वारा भी इतिहास प्रस्तुत किये गए; किन्तु इनका प्रयत्न कवि की जीवनचर्या, उनकी आलोचना आदि पर अधिक रहा। शुक्ल जी ने “टेन” के विचारानुकूल आधुनिक दृष्टिकोण से इतिहास लिखने का कार्य किया। इस कार्य के सम्पादन में उन्हें ध्यान रहा है कि “किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का

संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ ।” सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को कारण देते हुए चार कालों में उन्होंने विभक्त किया है । यह नामकरण उस काल की मुख्य प्रवृत्ति को देखकर ही हुआ है । रचना काल को बिना किसी आधार के आदि, मध्य, पूर्व और उत्तर आदि खण्डों में बाँटना उन्हें नहीं रुचा । आदि काल के लिए “वीर-गाथा” काल मान देना उन्हें अधिक संगत लगता है । इस नाम देने का आधार उव काल की वीर-रस-पूर्ण कविताओं की अतिशयता है । इस समय सिद्धों की रहस्यमय भक्ति भी चल रही थी, जिसमें विकार आ गया था । गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय की व्यवस्था उसके विरोध में उत्पन्न हुई । कवितायें इन संप्रदायों के उपदेश के रूप में तथा शृंगार रस की भी हांती थीं; किन्तु प्रधानता वीर-रस पूर्ण कविताओं की ही थी । इसके पश्चात् मुसलमानों से आक्रान्त और बलशिथिल हिन्दू जनता मारकाट से ऊँचकर मुख्यतः भक्ति-भावना में लीन हो गई । इस राजनीतिक परिस्थिति के अतिरिक्त नाथपंथियों की साधना तथा “सिद्धों” के अतिचार के विरुद्ध जो सामाजिक प्रतिक्रिया हुई उसके फलस्वरूप भक्तों का जोर बढ़ा और भक्तिपूर्ण कवितायें अधिक मात्रा में होने लगीं । वीरगाथा काल समाप्त हुआ और भक्ति काल का आरम्भ हुआ । युद्ध से ऊँचे हुए जो लोग भगवान् के सगुण रूप की उपासना में लगे, सगुण भक्ति शाखा में आए और जो नाथपंथियों के अनुसार परमात्मा को घट के भीतर ही मानकर आगे बढ़े, निर्गुण-मार्गी कहलाए । सगुण मार्ग की दो शाखायें हुयीं : पहली : “राम भक्तिशाखा” जिसमें राम की वन्दना के माध्यम से जनता में पुनः आदर्श और बोरत्व का संचार किया जाने लगा । : दूसरी : “कृष्ण भक्तिशाखा” जिसमें लीला पुरुषोत्तम की लीला में रमकर भक्तों ने अपने कष्ट को भुलाने

का निश्चय किया ।

निर्गुण के क्षेत्र में भी दो सम्प्रदाय दीख पड़े : १- ज्ञानमार्गी, जो ज्ञान की चर्चा कर ईश्वर का ज्ञान कराते थे; किन्तु नाथ सम्प्रदायवालों की तरह प्रेम से विलकुल अछूते भी न थे । २ प्रेम-मार्गी, जो सूफियों की प्रेम-पद्धति को लेकर उपासना-क्षेत्र में बड़े ।

कुछ काल बाद जब संस्कृत के शास्त्रों के आधार पर रीति की वार्ता आरम्भ हुई और काव्यांगों का रीति के आधार पर विवेचन हुआ तो उसे रीति-काल की संज्ञा मिली । शुक्ल जी ने इसे ही "रीति-काल" कहा है । रीति काल के पश्चात् जो काल आया उसमें "गद्य" की ओर अधिक प्रवृत्ति देख शुक्ल जी ने इसे "गद्य-काल" कहा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी ने दैज्ञानिक ढंग पर, ऐतिहासिक आधार लेकर विभिन्न समय की विभिन्न प्रवृत्तियों का शोध किया है और उन विभिन्न प्रवृत्तियों में लोक की विशिष्ट प्रवृत्ति का पता लगता है । उन्होंने प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति के साथ उन प्रवृत्तियों के मूल के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कारणों का उल्लेख किया है । काल विशेष के अन्दर आनेवाले विभिन्न ज्ञात और अज्ञात कवियों तथा कृतियों का पता लगाकर उनके सम्बन्ध में मत दिया है । उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सामग्री उन्होंने "मिश्र बन्धुओं" से ली है; किन्तु उसमें यथाचित परिवर्धन और संशोधन करके ही उसे प्रस्तुत किया है ।

गद्य-काल के अन्तर्गत उन्होंने दिखाया है कि आरम्भ में गद्य की रचना ब्रजभाषा में होती थी। खड़ी बोली का प्रसार बाद में हुआ और काव्य के क्षेत्र में उसका पूर्णतः परिमार्जन द्विवेदी युग

में श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने किया। गद्य के क्षेत्र में नाटक, निबन्ध, कहानी आदि के विकास की चर्चा के साथ “नई धारा” पर भी विचार किया गया है। “रोमांटिसिज्म” को “स्वच्छन्दतावाद” कहकर उन्होंने बताया है कि यह वाद इस लिए न चल सका क्योंकि श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी इतिवृत्तात्मक पद्यों पर जोर दे रहे थे। इस इतिवृत्तात्मकता से ऊँचकर जिस नये ढंग की कविताओं का चलन हुआ उसे “छायावाद” का नाम दिया गया।

इस प्रकार “हिन्दी साहित्य का इतिहास” में उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षक की विशद दृष्टि लेकर शोध और मूल्यांकन का कार्य किया है। शुक्लजी ने साहित्य का काल-विभाजन, साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ और उनके कवियों का परिचय तथा आलोचना वैज्ञानिक ढंग पर देकर हमें ६०० वर्ष के साहित्य से परिचित कराया है।

जिस अष्टछाप में सूरदासजी जैसे कवि रहे हैं उसका विस्तृत परिचय कराने के लिए श्री दीनदयालु गुप्तजी ने “अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय” का दो भागों में लिखकर समस्त दीनदयालु गुप्त हिन्दी काव्य में प्रभाव छोड़नेवाले अष्ट छाप के काव्यों का परिचय दिया है। उन्होंने ब्रज के भौगोलिक वर्णन के बाद ब्रज के कवियों के समय की परिस्थितियों का वृत्तान्त, कवियों का चरित्र और उनकी कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत करने के साथ ही विभिन्न संप्रदायों का विवेचन भी किया है। पुष्टि-मार्ग क्या है, भक्ति की कौन-सी विधा वल्लभ संप्रदायवालों को मान्य थी तथा कवियों के दार्शनिक विचार उनकी कृतियों में किस रूप में प्रतिफलित हुए हैं, आदि प्रश्नों पर गुप्तजी ने अच्छे ढंग से विचार किया है। हिन्दी कृष्णभक्ति-धारा के अध्ययन को आगे बढ़ाने में सहायक इस ग्रन्थ में अष्ट-

छाप के कवियों के उपलब्ध ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार कर शोध का कार्य सम्पादित किया है। सूर और नन्ददास के अतिरिक्त आनेवाले अन्य कवियों के जीवन के सम्बन्ध में तथा उनके काव्यों के पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में विचार कर लेखक ने दिखाया है कि उनकी धार्मिक पृष्ठभूमि क्या थी। ब्रजभूमि का परिचय कराते हुए उन्होंने अष्टछाप से संबन्धित स्थानों का विवरण दिया है तथा निम्बार्क, माधव, विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदायों का विवेचन किया है। अकबरकालीन ऐतिहासिक ग्रंथ तथा बल्लभ संप्रदाई परंपरा और उसके ग्रंथों के आधार पर गुप्तजी ने कवियों के जन्म और गोलोकवास की तिथियाँ दी हैं।

श्री पदुमलाल मुन्नालाल बख्शी ने “हिन्दी साहित्य विमर्श”, और “विश्व साहित्य” के निबन्धों में सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के साथ ही इतिहास भी प्रस्तुत किया है। देश, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी । काल आदि के प्रभाव में कृतियों व कृतिकारों की समीक्षा करने के साथ ही उन्होंने हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाषा के विकास तथा उसकी स्थिरता के सम्बन्ध में पश्चिमी व पूर्वी विद्वानों का मत प्रस्तुत किया है। “हिन्दी साहित्य विमर्श” में उन्होंने हिन्दी साहित्य को चार विभागों में बाँटा है : १. आदि काल २. मुसलमानों का आक्रमण काल ३. मुसलमानों का राजत्व काल ३. अंग्रेजों का शासन काल। विभाजन का यह ढंग साहित्य की दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक न होने पर भी इतिहास की पृष्ठभूमि के कारण महत्वपूर्ण है तथा इतिहास द्वारा प्रस्तुत प्रवृत्तियों का प्रभाव साहित्य पर दिखाने के लिए लाभप्रद है। बौद्ध धर्म के बाद का साहित्य सर्वसाधारण नहीं था अतः उसे उन्होंने लौकिक साहित्य के क्षेत्र में नहीं लिया है। हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति

को वे उस काल में मानते हैं जब भारतीय सत्य, अनुभूति का विषय न होकर तर्क का विषय हो गया था। उनका कहना है कि जब धर्म के सम्बन्ध में पाप की कल्पना होने लगी तो सत्य की ज्योति फैलाने के लिए सन्तवाणी फूटी; किन्तु उसमें कला का दर्शन न होगा अतः साहित्य के “मध्य काल” में कला को मिलाया गया और इस मिश्रण के कर्ता के रूप में मूर, तुलसी आदि के दर्शन हुए। कुछ काल बाद कला को ही प्रधानता मिलने लगी और रीति काल के विहारी जैसे कवि सामने आए। अन्त में गद्य की ओर लेखकों की प्रवृत्ति ने आधुनिक काल को जन्म दिया।

“विश्व साहित्य” में साहित्य के मूल विकास आदि को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। जर्मनी में “सेविन ईयर्स वार” का क्या प्रभाव पड़ा, हिन्दी में देश काल का कव कैसा प्रभाव पड़ा आदि प्रभावों का दिग्दर्शन कराकर उन्होंने विश्व साहित्य की प्रगति का इतिहास प्रस्तुत किया है। बरुशीजी ने अंग्रेजी और हिन्दी विचारकों के विचार तथा उनके माध्यम से निरूपित अपने विचार सरल भाषा में अभिव्यक्त किये हैं।

हिन्दी साहित्य के एकांत साधक श्री परशुराम चतुर्वेदी की प्रवृत्ति विशेषतः मध्यकालीन साहित्य में रमी है। विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता तथा इतिहास और दर्शन के परशुराम चतुर्वेदी] पंडित होने के कारण उनकी दृष्टि में जो व्यापकता आई है उसने विवेचना को अधिक वैज्ञानिक बना दिया है। “मीराबाई की पदावली” के सम्पादन के अतिरिक्त जिन कृतियों से उन्होंने हिन्दी साहित्य को विभूषित किया है, वे हैं : १ “उत्तरी भारत की सन्त परम्परा”

२. “सूफी काव्य संग्रह” ३. “सन्त काव्य” ४. “वैष्णव धर्म का क्रमिक विकास” आदि ।

“उत्तरी भारत की सन्त परम्परा” में लेखक ने उस सन्त परम्परा का परिचय कराया है जो कबीर साहब के साथ उत्तरी भारत में आरम्भ हुई थी । सन्त परम्परा के अन्तर्गत उन सन्तों को ही लिया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी का अपना पथप्रदर्शक माना था अथवा उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों और साधनाओं को किसी न किसी रूप में अपनाया था ।

उत्तर आर दक्षिण के सन्तों पर विचार कर उनका पारस्परिक सम्बन्ध बतलाने के बाद उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पर विचार किया गया है और इस परम्परा को विक्रम के १३वीं सदी के जयदेव से २५वीं सदी के महात्मा गांधी तक दिखाया गया है । सन्त होने के नाते इन सन्तों ने जातिगत विभिन्नता की मद्दा उपेक्षा की । साधना क्या है, वेदिक साधना और भक्ति साधना तथा ज्ञानवाद आदि का क्या प्रयोजन है, इस पर विचार प्रकट कर लेने के बाद लेखक ने गौतम बुद्ध के मार्ग शंकराचार्य के सिद्धान्त “पिंड रहस्य”, “युगनन्द”, “सहज मार्ग” आदि पर विचार किया है । सन्तों की परम्परा में योगी परम्परा का प्रभाव, इस्लाम धर्म का प्रभाव, सूफी सम्प्रदाय का परिचय तथा अन्य ऐसी ही बातों को निरूपित करने के साथ ही सन्त परम्परा के विभिन्न सम्प्रदायों यथा : “वारकरी सम्प्रदाय”, “कश्मीरी शैव सम्प्रदाय” आदि पर मत दिया है । कबीर साहब की जावन-वृत्ति, उनके सिद्धान्त, उनके समसामयिक सन्त : नानक, दादू आदि तथा नानक पंथ, दादू पंथ, सत्तनामी सम्प्रदाय आदि पर विस्तृत रूप से अन्वेषणात्मक विचार प्रस्तुत किया गया है । सन्त परम्परा

पर विस्तार के साथ मौलिक ढंग से विचार कर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है।

हिन्दी साहित्यान्तर्गत प्रचलित विभिन्न धाराओं में से अपने विशेष अध्ययन के लिए डा० पीताम्बरदत्त बडधवाल ने भक्ति-काव्य की निर्गुण धारा को चुना। इतिहास पर पीताम्बरदत्त दृष्टि रखकर इस धारा का ऐतिहासिक परिचय, बडधवाल] उसका विकास तथा उसकी गति का निर्देशन उन्होंने “हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय” में किया है। इस पुस्तक में शोधों के आधार पर मूल्यांकन करते हुए निर्गुण धारा की ऐतिहासिक समीक्षा बड़े अच्छे ढंग से की गई है। निर्गुण धारा के सन्तों का भी अपना दर्शन है इस बात को सिद्ध करने तथा उनमें दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं का एक निश्चित क्रम ढूँढ़ निकालने का उन्होंने जो कार्य किया है वह नवीन खोज के रूप में है। इस खोज के निमित्त उन्हें कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थों से भी सहायता लेनी पड़ी है। वे मानते हैं कि “निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रायः उन सभी बातों का सुन्दर समावेश पाया जाता है जो भारतीय आध्यात्मिक विचारों में मूल्यवान समझी जाती हैं।” उनका यह विचार पुस्तक के पृष्ठ ६ पर व्यक्त है। निर्गुणियों में वे “सारग्राहिता” शक्ति का होना बतलाते हैं और इस गुण को बतलाने के लिए इतिहास की ओर देखते हुए कहते हैं कि समय-समय पर विभिन्न धर्मों व विभिन्न आध्यात्मिक पद्धतियों के सार तत्वों को निर्गुणियों सन्तों ने अपनाया है। एक ओर उनकी शब्दावली में हरि, नारायण, नारदी भक्ति जैसे शब्दों का प्रयोग है तो दूसरी ओर बौद्धों में प्रचलित शून्य, निर्वाण आदि शब्दों का। “अजपाजाप” के साथ योगाभ्यास, तंत्रों से प्राप्त प्राण आदि का उपयोग,

शंकराचार्य का अद्वैतवाद आदि इस सारग्राहिता के कारण निर्गुणियों में एक साथ दीख पड़ते हैं।

मुसलमानों की लूटपाट के बाद भारत की आध्यात्मिकता का जो रूप हुआ उसे “निर्गुण सन्त सम्प्रदाय” कहते हैं। कबीर ने हिन्दू और मुसमान दोनों को उपदेश देना आरम्भ किया और उनकी त्रुटियों का निर्देशन किया, साथ ही ऐसा मार्ग दिया जिससे दोनों जातियों में सहृदयता आई और आध्यात्मिक तथा साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों में ऐक्य हो सका। कबीर के अनुसरण-कर्ताओं की एक परम्परा चल निकली जिसे “निर्गुण सम्प्रदाय” कहा गया। उनका यह मत तर्कपूर्ण है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों में समन्वय करनेवाले “एकेश्वरवाद” का समर्थन करते हुए डॉ० साहब ने कहा है कि सन्तों ने परं तत्त्व “ईश्वर” को निर्गुण और सगुण दोनों से भिन्न समझा है और इसीलिए उसे “अलख”, “अनामि”, “सत” आदि संज्ञायें दी हैं। दर्शन में स्थित तीन मुख्य भेदों : “अद्वैती”, “भेदाभेदी” और “विशिष्टाद्वैती” के आधार पर उन्होंने निर्गुणियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। कबीर, दादू आदि को अद्वैती; नानक को भेदाभेदी तथा शिवदयाल आदि को विशिष्टाद्वैती कहा है। तृतीय अध्याय में उन्होंने निर्गुणियों की साम्प्रदायिक मान्यताओं को स्पष्ट किया है। “सतगुरु” क्या है और उसे सन्तों ने किस रूप में ग्रहण किया है आदि प्रश्नों के बाद विचार करने पर यह भी दिखाया गया है कि सन्तों में समाज की मंगल-कामना भी थी। उनसे समाज की उपेक्षा नहीं हुई है। “निर्गुण धारा” के आरम्भ, विकास, विचारधारा, सारग्राहिता आदि का वर्णन इतिहास के आधार पर प्रस्तुत कर डॉ० बडधवाल ने सन्तों का

परिचय तथा उनकी कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इतिहास की महत्ता साहित्य में दर्शन और धर्म के उच्च आदर्श के रूप में मानते हुए श्री रामकुमार वर्मा ने आलोचना की आधुनिक दृष्टि से “हिन्दी साहित्य का आलो-रामकुमार वर्मा] नात्मक इतिहास” प्रस्तुत किया है। हमारे साहित्य ने हमारे इतिहास की रक्षा की है और उसमें ऐतिहासिक व्यक्तियों की चर्चा तथा घटनाओं का कथन बड़े महत्वपूर्ण ढंग पर हुआ है। एक ओर तो उनसे इतिहास की रक्षा हुई है और दूसरी ओर उस समय की साहित्य की आलोचना के लिए हमें उस समय का इतिहास साधन-रूप में सहायक होता दीखता है। श्री रामकुमार वर्मा ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर इस इतिहास का प्रणयन किया है।

काल-विभाजन में उन्होंने कुछ मौलिकता लाने की चेष्टा की है। शुक्लजी से कुछ भिन्न उन्होंने चारणकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिककाल जैसे चार विभाग किए हैं। चारणकाल में वीर-रस-पूर्ण कविताओं का बाहुल्य मानते हुए भी चारणकाल इसलिए कहा गया है क्योंकि उस समय की कविताओं को विशेषतः चारण ही बनाते और गाते थे। भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण धारा में ज्ञानामयी शाखा को ‘सन्त-मत’ तथा प्रेमात्रयी शाखा को ‘प्रेम-काव्य’ का नाम दिया गया है। उन्होंने सगुण धारा के राम काव्य के अन्तर्गत ही आधुनिक काल में लिखे गये राम-सम्बन्धी काव्यों को भी स्थान दिया है तथा कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत आधुनिक काल के कृष्ण-सम्बन्धी ग्रन्थों की चर्चा की है। उन्हें केवल सं० १७०० तक का ही इतिहास प्रस्तुत करना

था। अस्तु, रातिकाल व आधुनिक काल का विवेचन नहीं हो सका है। आधुनिक प्रवृत्तियाँ भी अछूती रह गई हैं।

वर्माजी ने गोरखनाथ और कबीर आदि का काल-निर्णय तथा उनके ग्रन्थों की संख्या व नाम का निर्णय कर वैष्णव-धर्म व कृष्ण-काव्य का विकास घोषित किया है। पृथ्वीराजरासो का समय उन्होंने ११७८ में १२०० के बीच माना है। कबीर के ग्रन्थों की संख्या को ६२ बतलाते हुए पृ० २४० पर उनकी सूची देकर उन्होंने शोधपूर्ण कार्य किया है।

इतिहास-सम्बन्धी दूसरी पुस्तक का नाम “सन्त कबीर” है। इसमें मुख्यतः कबीर के पद्यों का संकलन हुआ है, किन्तु भूमिका में ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि भी मिलती है। सन्त-मत को साधारण व्यक्तियों ने भी स्वीकार किया है, इसके मूल में वे सन्त-मत की उस प्रेरणा को मान्यता देते हैं जो शास्त्रीय जटिलताओं को सुलझाकर धर्म को सरल बनाने की शक्ति रखती थी।

इस प्रकार श्री रामकुमार वर्मा ने विवेचनात्मक दृष्टि लेकर साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न शोधों के पश्चात् सं० १७०० तक के अज्ञात एवं ज्ञात कवियों और कवि-कृतियों पर विचार प्रकट किया है और हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास का प्रणयन किया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने “हिन्दी साहित्य की भूमिका” में हिन्दी साहित्य के इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। पुराने लेखकों और कवियों तथा कवि-कृतियों का लेखा प्रस्तुत कर, उनपर कुछ विचार दे, केवल कवियों, लेखकों तथा कृतियों की एक तालिका प्रस्तुत करना उन्हें अभीष्ट नहीं है।

हिन्दी साहित्य का वास्तविक इतिहास तो तभी जाना जा सकता

है जब उस साहित्य में विकास-परम्परा का और उसमें होनेवाली क्रियाओं का गीनन हो और उन्हें प्रकाशित करनेवाले दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि कार्यों का दिग्दर्शन हो। “हिन्दी साहित्य की भूमिका” में पण्डितजी ने इन कारणा के साथ होनेवाली अविच्छिन्न विकास-परम्परा का उल्लेख कर साहित्य का वास्तविक इतिहास प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य के जन्म को दिखलाने के लिये पूरे परिस्थिति का उल्लेख कर उन्होंने बताया है कि उस समय बौद्धों का पर्याप्त प्रभाव था और उनके तन्त्र-मन्त्र का प्रभाव जनता को आकृष्ट कर रहा था। नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथ पन्थियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह सम्प्रदाय काल-क्रम से हिन्दीभाषी जन-समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। हिन्दी साहित्य की भूमिका के पृ० ६ पर द्विवेदीजी ने अपने इन विचारों को स्पष्ट किया है। नाथपन्थियों के उद्भव के सम्बन्ध में इस प्रकार की खोज नवीन है। इस तर्क के आधार पर तथा सूर, तुलसी के ग्रन्थों के आधार पर पण्डितजी ने उसके प्रभाव को सिद्ध किया है।

बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन, बौद्ध तत्त्ववाद का प्रभाव, मध्य युग के साहित्य के उस अंग पर उन्होंने सिद्ध किया है जिसे “सन्त साहित्य” कहते हैं। “शास्त्र सापेक्ष भाव धारा के भक्तों के अवतारवाद का जो रूप है उस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है।” यह मत पण्डित जी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका के पृ० १० पर व्यक्त किया है। उन्होंने दिखाया है कि मुसलमानों के आने के पूर्व ही लोक भाषा अपभ्रंश, साहित्यिक हो उठी थी और अपभ्रंश कविताओं के स्वाभाविक विकास के रूप में पृ० २८ पर उन्होंने आधुनिक युग के पूर्व के हिन्दी कविता

के छः प्रधान अंगों : डिंगल कवियों की वीर गाथायें, निर्गुणिये सन्तों की वाणियाँ, कृष्णभक्ति या रामानुगा भक्ति-मार्ग के साधकों के पद, राम-भक्ति या वैधी-मार्ग के उपासकों की कवितायें, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिकता पर हिन्दी कवियों के रोमांस और रीति काव्य को माना है। पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक श्रृंगारी काव्य-नीतिविषयक फुटकर रचनायें और लोक-प्रचलित कथानक; और पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिये सन्तों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, भाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्य की साधना, योग-पद्धति और मूलक रचनाओं का विकास निरूपित किया है।

वैष्णव आचार्य रामानुज को आलावार भक्तों की परम्परा में उत्पन्न बतलाने के बाद योग मार्ग और सन्त-मत पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए पंडितजी ने भक्ति-मार्ग के प्रमुख आठ कवियों की जीवनवृत्ति तथा उनकी आलोचना प्रस्तुत की है। ये कवि हैं : कबीर, नानक, सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास, दादू-दयाल, सुन्दरदास, रज्जब।

उन्होंने रीतिकालीन कविता का विकास प्राकृत और अपभ्रंश से सिद्ध किया है। हिन्दी साहित्य के भूमिका के पृ० ११६ पर वे लिखते हैं : “इस काल की समूची रूढ़ियाँ और कवि प्रसिद्धियाँ वही नहीं थीं जो प्राचीन संस्कृत काव्यों में मिलती हैं। इनमें बहुत कुछ नई थीं और बहुत-सी पुरानी भुला दी गई थीं।” पंडितजी के इस कथन से स्पष्टीकरण होता है कि भाव का यह रूप अपभ्रंश का विकास था, उसका तद्वत रूप नहीं। रीतिकाल के विवेचन के बाद आधुनिक युग के साहित्य और साहित्यकारों की आलोचना भी हुई है।

हिन्दी साहित्य की भूमिका में “कवि प्रसिद्धियों” की चर्चा ने इसे अन्य हिन्दी साहित्य-सम्बन्धी इतिहासों से अलग कर दिया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि के अध्ययन के बाद हिन्दी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, लेखकों आदि पर विचार करके हिन्दी साहित्य की भूमिका जैसी प्रामाणिक-ऐतिहासिक पुस्तक वे दे सके हैं, जिससे हिन्दी-साहित्य का बड़ा लाभ हुआ है।

ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में कार्य करनेवाले कतिपय अन्य समीक्षक भी हैं। उनकी समीक्षाओं ने भी अच्छा कार्य किया है। श्री कृष्णशंकर शुक्ल का ‘आधुनिक हिन्दी-विविध साहित्य का इतिहास’ भारतेन्दु के पश्चात् के आधुनिक साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में जानने योग्य बातों का भी उल्लेख हुआ है; किन्तु स्वतन्त्र विचार की कमी लक्षित होती है।

डा० केसरीनारायण शुक्ल ने “आधुनिक काव्यधारा” के अन्तर्गत जीवन की विभिन्न धाराओं के अनुसार आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार प्रगट किया है। अंग्रेजी सत्ता का प्रभाव, सामाजिक आन्दोलन की गति और परिणामस्वरूप साहित्यिकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन का दिग्दर्शन कराने के बाद शुक्लजी ने दिखाया है कि “इस परिवर्तन के कारण शृंगार से अरुचि हुई और लेखकों की वृत्ति-राष्ट्र-प्रेम, देश-प्रेम आदि की ओर उन्मुख हुई। लोग सुस्पष्ट और प्रभावपूर्ण ढंग पर अपने विचार साहित्य के द्वारा प्रकट कर देशवासियों को प्रभावित करने लगे। यह सब देशहित की कामना से होने के कारण समन्वय की बुद्धि

लेकर हुआ और भाषा में तुरन्त परिवर्तन न हुआ। जब इन भावनाओं का प्रचार हो चुका तो महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का नारा बुलन्द किया और खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में मान लिया गया। बंगाल में रवि बाबू की रहस्यवादी रचनाओं का प्रभाव हो चुका था और उनसे प्रभावित होकर रहस्यवाद व छायावाद हिन्दी में घुस पड़ा तथा रचनाएँ रहस्यवादी व छायावादी पद्धतियों पर होने लगीं। देश-भक्ति ने क्रान्ति की भावना को उद्भूत किया और प्रगतिवादी या क्रान्तिकारी कविताएँ होने लगीं।” इस प्रकार इन सब तथ्यों का उद्घाटन इतिहास के प्रमाणों के आधार पर देकर शुक्लजी ने कवियों की कृतियों का इतिहास देने की अपेक्षा आधुनिक कविता की प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास को दिखाया है। इसी-लिए एक ही प्रवृत्ति के कई कवियों में से कुछ प्रमुख कवि छूट गए हैं, जब कि उनके मुकाबले में कम ख्यातिवाले दूसरे कवि दूसरी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने के कारण आ गए हैं। उनका यह प्रयत्न नवीन है और स्तुत्य है।

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा और ब्रजरत्नदास ने क्रमशः “हिन्दी गद्य शैली का विकास” और “खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का विकास” शीर्षक पुस्तकों में गद्य और खड़ी बोली सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं। गद्य शैली के विकास के मूल में स्थिति परिस्थितियों के उल्लेख के साथ गद्य लेखकों का परिचय, उनके समय की स्थिति और उन स्थितियों का उन लेखकों पर प्रभाव स्पष्ट करते हुए श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने गद्य का मौलिकता-पूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। श्री ब्रजरत्नदासजी ने खड़ी बोली के मूल की परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करते हुए उसके विकास क्रम को दिखलाने का कार्य किया है।

श्री रमाशंकर शुक्ल “रसाल” ने “हिन्दी साहित्य का इतिहास” नामक पुस्तक में हिन्दी साहित्य की सभी बातों का परिचय कराया है; किन्तु परिचय का यह ढंग वैज्ञानिकतापूर्ण नहीं है। उन्होंने अपना स्वतन्त्र मत न देकर औरों के मत का संग्रह किया है। उनके अनुसार हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति का काल ७०० से ६०० तक, उसका आदि काल १००० से १४०० तक, मध्य काल १४०० से १८०० तक और आधुनिक काल १८०० से अब तक समझा जाना चाहिए। इस विभाजन में न तो मौलिकता और न तो वैज्ञानिकता है। कविता, खड़ी बोली, ब्रायावाद आदि की विस्तृत चर्चा हुई है; किन्तु उसमें भी विचार की मौलिकता नहीं दीख पड़ती।

डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय का “आधुनि हिन्दी साहित्य” और डा० श्री कृष्णलाल का “आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास” भी महत्वपूर्ण हैं। “वाष्णीय” जी ने १८५० से १९०० ई० तक का सुसम्बद्ध आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है और डा० श्री कृष्णलाल ने निष्पक्ष ढंग पर सन् १८५० से १९२५ ई० तक का अर्थात् आधुनिक काल के २५ वर्षों का इतिहास प्रस्तुत किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य का महत्व क्यों है, इसे सिद्ध करने के लिए इतिहास के तथ्यों का उल्लेख हुआ है। विकास के लिए जो शक्तियाँ कार्य कर रही थीं उनका और साथ ही अवरोधक तत्वों का भी परिचय कराया गया है।

सं० २००२ में प्रकाशित पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की पुस्तक “घनानन्द और आनन्दघन” भी ऐतिहासिक शोध से पूर्ण है। लेखक ने आनन्द और आनन्दघन को पृथक प्रमाणित किया है। श्री सूर्यकान्त शास्त्री का “हिन्दी साहित्य का

विवेचनात्मक इतिहास” हमें “की” के “ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर” पर निर्धारित हिन्दी की रूपरेखा से परिचित कराता है।

ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में श्री चतुरसेन शास्त्री का “हिन्दी साहित्य का इतिहास”, श्री रामखेलावन पांडेय का “गीत काव्य”, श्री विश्वनाथ एम० ए० का “नाटकों का विकास” तथा श्री गलाब राय व श्री पद्मसिंह शर्मा ‘कमलेश’ का छात्रोपयोगी “हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास” और “हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास” भी दृष्टव्य हैं।

इतिहास के आधार पर तथ्यों के उद्घाटन का जो क्रम आचार्य शुक्लजी ने वैज्ञानिक ढंग पर आरम्भ किया उसका उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। शुक्लजी विकास की दिशा]तथ्यों की उद्भावना कर देते थे; किन्तु उसके मूल में स्थिति कारणों का विस्तृत विवेचन वे न कर पाये। शुक्लजी के बाद के आलोचकों ने उनके द्वारा दिए गए निर्णयों के मूल कारणों का शोध अधिक वैज्ञानिकता से किया। शुक्लजी ने भक्तिकाल को निर्गुण और सगुण में विभाजित किया; किन्तु श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विभाजन का कारण भी स्पष्ट किया है साथ ही बताया है कि बौद्ध व शैव साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। उन्होंने मध्य युग के साहित्य पर बौद्ध आचार्यों के तत्त्ववाद का प्रभाव दिखाया है। शुक्लजी ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि किस कारणवश निर्गुणियों में भारत के सभी आध्यात्मिक तत्वों का सार मिलता है। इस तथ्य का उद्घाटन श्री पीताम्बर-दत्त बड़ध्वाल ने किया है और उसके मूल में निर्गुणियों की

“सारग्राहिता” का निर्देश किया है। “छायावाद” के उद्भव की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने द्विवेदी युग से ऊँच जाने को व पद-लालित्य की आकांक्षा को कारण रूप कहा है। श्री केशरी-नारायण ने उसके मूल में रवि बाबू का प्रभाव भी स्पष्ट किया है। इस प्रकार शुक्लोत्तर ऐतिहासिक समीक्षा परिवर्तनों के कारण विकासशील है।

अध्याय ४

: साहित्यिक समीक्षा :

साहित्यिक समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार किया जा चुका है, किन्तु उसका दूसरा पक्ष जो शुद्ध साहित्यिक है, अभी विचारणीय है। प्रथम पक्ष के समीक्षकों का कार्य सिद्धान्तों का निरूपण मात्र था किन्तु इस द्वितीय पक्ष के समीक्षकों का कार्य साहित्यिक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना और उन्हें कसौटी मानकर साथ ही अन्य दृष्टियों से आलोच्य पर विचार करना है। इस प्रकार शुद्ध साहित्यिक समीक्षा वह समीक्षा है जिसमें आलोच्य को उसकी वर्तमान परिस्थिति के बीच रखकर देखते हैं, सिद्धान्तों के आधार पर उसकी परख करते हैं तथा उसकी व्याख्या करके वर्तमान समय में उसकी उपादेयता का निर्णय करते हैं। इस शुद्ध साहित्यिक समीक्षा का कर्ता, आलोच्य और उसकी परिस्थितियों पर दृष्टि रखते हुए देखता है कि कृति कृतिकार की बुद्धि की उपज है या परंपरा से पालित है। वे देखते हैं कि आलोच्य पर प्राचीन परंपरा का प्रभाव काव्य पाठ के प्रतिफल के रूप में है अथवा दर्शन या आध्यात्म के प्रभाव के रूप में है। ये समीक्षक अपना विचार "वाद" से मुक्त होकर निष्पक्षता से दिया करते हैं। इस श्रेणी का समीक्षक यह भी देखता है कि लेखक ने क्या पढ़ा है और उसकी प्रतिभा तथा कल्पना ने उसका साथ कहाँ तक दिया है। समीक्षा के इस रूप को ही वास्तविक समीक्षा कहना

संगत लगता है। इसमें निष्पक्षता से गुण-दोष-कथन तथा आलोच्य की जाति या वर्ग का निर्णय किया जाता है।

इस समीक्षा को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : १ : निर्णयात्मक समीक्षा : २ : व्याख्यात्मक समीक्षा। यह विभाजनशैली के आधार पर हुआ है और इन पर गंभीर विचार करना ठीक लगता है।

सैद्धान्तिक आलोचना का व्यावहारिक प्रयोग ही निर्णयात्मक आलोचना का रूप धारण कर लेता है। इस पद्धति पर जो आलोचना प्रस्तुत होती है। उसमें काव्य को [निर्णयात्मक समीक्षा] काव्य के गुण दोषों के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है। इसे शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। इसमें शास्त्रीय पारिभाषिक पदावली का प्रयोग होता है।

इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय नियमों के आधार पर निर्णय न देकर आलोचक कवि के आदर्शों को ही प्रधानता देता है। आलोचक के सामने यह प्रश्न होता है [व्याख्यात्मक समीक्षा] कि कवि का क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था और कैसे उसने अपने उद्देश्य का निर्वाह किया है। यह भी देखा जाता है कि उसका कथन कहाँ तक आवश्यक और कहने योग्य है। इसके लिये तुलनात्मक पद्धति भी ली जाती है।

शुद्ध समीक्षा की शैलियों के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षकों में प्रमुख हैं : श्रीरामचन्द्र शुक्ल, श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी, श्री विश्वनाथ मिश्र, श्री शान्तिप्रिय, श्री हजारी-प्रसाद द्विवेदी आदि।

व्यावहारिक समीक्षा या साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में जिस गंभीरता से शुक्लजीने अपनी कृतियों को प्रस्तुत किया है, वह

विचारणीय है। सूर, तुलसी और जायसी का रामचन्द्र शुक्ल] उत्कृष्ट अध्ययन उन्होंने हिन्दी जगत को भेंट किया है। अतीत की ओर दृष्टि होने के कारण उन्होंने आधुनिक कवियों पर विचार करना उचित नहीं समझा। आलोच्य का विवेचन करने में कुछ उनकी रुचि भी आ जाती है, फिर भी प्रधानता आलोच्य की ही रहती है।

सैद्धान्तिक आलोचना की तरह ही व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने लोक-धर्म या लोकादर्शवाद पर ही अधिक जोर दिया है। लोक-पक्ष के चित्रण की अधिकता जिस काव्य में होती है, वे उसे ही श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। इस लोकपक्ष पर दृष्टि होने के कारण ही निर्गुणियों तथा छायावादियों और रहस्यवादियों को वे अधिक महत्व नहीं देते। सूर के कृष्ण लोकरंजक रूप में अधिक सामने आए हैं, लोक-रक्षक रूप में कम, किन्तु तुलसी के राम लोक-रक्षक रूप में ही सर्वत्र दीखते हैं, अतः शुक्लजी ने तुलसी को सूर से ऊँचा कहा है। सगुण भक्त कवियों की आलोचना में वे भगवान् के तीन गुणों : शील, शक्ति, और सौन्दर्य, की उपासना में अधिक रमते दीखते हैं।

उनके प्रेम के सिद्धान्त में भी लोकधर्म का ही प्रभाव रहता है। साहित्यिक के विश्लेषण के लिए जिस गम्भीर विवेक की आकांक्षा होती है वह शुक्लजी में पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उनकी साहित्य विवेचनाओं में विद्वत्ता के साथ ही सहृदयता का भी सुन्दर समन्वय मिलता है।

अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी वे काव्य-सिद्धान्त और शास्त्र पर विचार करते गए हैं। 'जायसी' और 'तुलसी' की आलोचना करते हुए वे अलंकार आदि का निर्देश भी करते गए हैं। उनकी आलोचना का एक आधार आलोच्य की मनो-

वैज्ञानिक परीक्षा भी है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र में सौन्दर्य, शक्ति और शील की नियोजना का सिद्धान्त मनोविकारों के आलंबन पर ही स्थित है। 'जायसी' की आलोचना में भी उनकी दृष्टि प्रेम, क्रोध आदि मनोविकारों के विश्लेषण की ओर गई है। द्विवेदी युग में रूढ़ियुक्त नवीन आलोचना के लिए जो मनोभूमि तैयार हुई थी, शुक्लजी की समीक्षा उसका पूर्णतः प्राप्तफलन हुआ। शुक्लजी की दृष्टि रचनाकार के हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों पर रहती है। इसी कारण उनकी आलोचना में एकांगिता नहीं आने पाई है। रचनाकार का अध्ययन उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखते हुए किया है। विवेच्य-विषय के स्पष्टीकरण के लिए तुलनात्मक शैली भी व्यवहृत हुई है। 'मसनवी' की प्रेम-पद्धति की चर्चा 'पद्मावत' की प्रेमपद्धति के स्पष्टीकरण के निमित्त ही है।

अपनी आलोचनाओं में स्थान-स्थान पर हास्य-व्यंग की योजना कर शुक्लजी पाठक के मानसिक वातावरण की गंभीरता और श्रमशैथिल्य को दूर कर उसकी मानसिक स्फूर्ति को पुनर्नवता प्रदान करते चलते हैं। जहाँ काव्यात्मक शैली से काम लिया गया है, वहाँ भावात्मकता अधिक आ गई है। पाश्चात्य आलोचना शैली के अनुसार शुक्लजी ने पात्रों के शील या चरित्र का निरूपण भी किया है किन्तु वह भारतीय पद्धति पर ही हुआ है।

श्री गुलाबरायजी जीवन और साहित्य का समन्वय करने के पक्ष में हैं और जीवन का उपभोग न्याय और मर्यादा के साथ करना चाहते हैं। छायावादी समीक्षकों में वे गुलाबराय शुक्लजी के समवयस्क ही ठहरते हैं। श्री गुलाबरायजी ने समीक्षा क्षेत्र में दर्शन की प्रतिष्ठा कर

छायावाद की आत्मा से उसका अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में जो कृतियाँ उन्होंने दी हैं वे हैं : 'प्रबन्ध प्रभाकर', 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', 'प्रसादजी की कला' आदि।

श्री गुलाबरायजी भाव और कलापक्ष की आलोचना करने के साथ ही आलोच्य पर पड़े मानसिक और सामाजिक प्रभाव की भी आलोचना करते हैं। जहाँ कवियों की आलोचना का प्रश्न आता है, वे कवि के उद्देश्य को तुला रूप में ग्रहण कर लेते हैं और उसी के आधार पर आलोचना करते हैं, उसके मूल्यांकन के लिए केवल पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों की ही कसौटी काम में नहीं लाते। उनकी भाषा सरस और सरल है, बीच-बीच में हास्य और व्यंग का पुट होने से भाव अधिक बोधगम्य हो गये हैं। भावाभिव्यक्ति की जो शैली 'फिर निराशा क्यों' में प्रयुक्त है, वह 'कर्तव्य-शास्त्र' या 'मेरी असफलताएँ' में नहीं है। अर्थात् उनकी शैली विषय के अनुरूप बदलती रहती है। मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने किया है। 'कहानी अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कहती है।' में मुहावरों की स्वाभाविकता स्पष्ट है।

स्वतन्त्र चिन्तन और गंभीर विवेचन की विशेषता लेकर श्री चन्द्रबलीजी ने समीक्षा क्षेत्र में प्रवेश किया है। वे आलोचना के क्षेत्र में शब्दों की आड़ लेकर मैदान मारने-चन्द्रबली पांडेय] वालों की खबर लेते हैं। सत्य के उद्घाटन और असत्य के निवारण का निर्भीक प्रयत्न उन्होंने किया है। साहित्य और विशेषतः भाषा-सम्बन्धी छोटी-छोटी प्रचार पुस्तिकाओं (पैम्फलेट्स) के रूप में पांडेयजी की कितनी ही कृतियाँ सामने आई हैं, पर उनके सम्बन्ध में जानकारी के लिए जिन पुस्तकों का अनुशीलन करना होगा, वे हैं : 'तसवुफ और

सूफी मत', हिन्दी-कवि-चर्चा', 'तुलसीदास', 'साहित्य सन्दीपनी' और 'महाकवि केशवदास' ।

'तसव्वुफ और सूफी मत' सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र की पुस्तक है । 'हिन्दी कवि चर्चा' में पांडेयजी ने चन्द्रवरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, मीरा, सूर और रसखान पर आलोचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत किए हैं । ओझाजी के 'चन्द्रवरदाई'-सम्बन्धी विचारों का खण्डन कर उन्होंने रासो में प्रक्षेप होने पर भी चन्द्र कवि की सत्ता को सिद्ध किया है । वे 'विद्यापति' को भक्त और शृंगारी दोनों ही मानते हैं । 'कबीर' को वे जनता के हृदय में व्यक्ति के रूप में नहीं प्रतीक के रूप में मानते हैं और अपनी इस स्थापना के बल पर उनके नाम से हुई तुल्यवन्दियों तथा प्रक्षेपों का होना सिद्ध करते हैं । उन्होंने दिखाया है कि सूर ने समग्र-समय पर कृष्ण को परब्रह्म सिद्ध करना चाहा है । सूर की सत्सम्बन्धी उक्तियों को देकर उन्होंने अपने कथन को पुष्ट किया है ।

'साहित्य सन्दीपनी' लेखक के विभिन्न निबन्धों का संग्रह है । 'भक्तिभाव' क्या है, 'प्रेमयोग' से क्या अर्थ लगाया जाता है तथा 'साधारणीकरण' किसे कहते हैं और 'मधुमति में रस-भूमि' का निर्णय किस रूप में हो, आदि प्रश्नों पर विचार प्रकट करने के बाद भूपाल की राष्ट्रभावना', 'राधा की तत्त्वचिन्ता' आदि पर विचार हुआ है । केशव की 'रामचन्द्रिका' के अतिरिक्त उनके 'वीरचरित' पर भी लेखक ने विचार किया है । 'एकता' भी लेखक के विभिन्न लेखों का संग्रह ही है । इसके आलोचनात्मक साहित्यिक निबन्धों में 'विद्यापति : अवहट्ट रचना', 'मुसलमानों में कृष्ण', 'बिहारी का प्रतिबिम्बवाद', 'देव की स्वभावोक्ति' द्रष्टव्य हैं । 'महाकवि केशवदास' लेखक की सबसे नवीन कृति है ।

पांडेयजी की कृतियों के सम्बन्ध में जान लेने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि वे विषय का सामान्य परिचय देने के बाद एक-एक अंश की विवेचना विश्लेषणात्मक पद्धति पर प्रस्तुत करते हैं। इनकी भाषा सरल और भावानुगामिनी है। व्यंग तथा कहावतों के प्रयोग से सरसता लाकर गम्भीर विचार को भी वे अधिक बोधगम्य करते दीखते हैं।

शर्माजी ने 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' में 'प्रसाद' के विभिन्न नाटकों के सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न उठाकर उनका उत्तर देने के साथ ही नाटक के पात्रों का श्री जगन्नाथप्रसाद चरित्र-चित्रण भी किया है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त शर्मा] आदि नाटकों में 'सन्धि-विधान', 'कार्यावस्था'

आदि नाटकीय तत्त्वों को निरूपित करने के अतिरिक्त नायक-निर्णय, नामकरण आदि प्रश्नों का भी उत्तर दिया गया है। स्वगत-प्रयोग, गीतों के बाहुल्य, पात्रों के आकस्मिक मिलन, 'रंगमंच पर मृत्यु जैसे प्रसंग' आदि विषयों पर भारतीय परम्परा के आधार पर विचार हुआ है। पाश्चात्य शैली में स्थित अन्तर्द्वन्द्व तथा अन्य तत्त्वों का भी गम्भीरतापूर्वक कथन और विवेचन हुआ है। संस्कृतगर्भित भाषा और मण्डन की प्रवृत्ति का व्यवहार किया गया है। शर्माजी ने पाश्चात्य और पौरस्त्य नाट्यादर्शों की समन्वित दृष्टि से प्रसाद के नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, पर विशेष मुकाबला उनका भारतीय आदर्शों की ओर ही रहा है। उनके पांडित्यपूर्ण प्रयास का महत्त्व इसी बात में सबसे अधिक है।

शर्माजी की दूसरी उल्लेखनीय पुस्तक है 'हिन्दी गद्य के निर्माता'। हिन्दी के विभिन्न गद्य लेखकों की समीक्षा प्रस्तुत करने में लेखक ने उन लेखकों के काल और परिस्थितियों पर

ध्यान दिया है। कृति को कृति के रूप में देखने का प्रयास कर उन्होंने दिखाया है कि कृतिकार अपनी कृति में कहाँ तक सफल हुआ है और कहाँ तक असफल। शुक्लजी, श्यामसुन्दरदास आदि के सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से विचार हुआ है। इस प्रकार शर्माजी इस कृति में तत्वाभिनिवेशी समीक्षक के रूप में सामने आए हैं।

दार्शनिक अध्ययन के कारण चिन्तन की सहज प्रवृत्ति लेकर व्याख्यात्मक समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षक के रूप में डॉ०

देवराज आलोचना क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं।

देवराज] 'छायावाद का पतन' में व्याख्या के साथ कई

स्थलों पर सिद्धान्तों का कथन भी हुआ है, पर प्रधानता व्याख्या की होने के कारण इसे व्याख्यात्मक क्षेत्र में ही रखना अच्छा होगा। 'छायावाद का पतन' के अतिरिक्त उनकी दूसरी पुस्तक 'साहित्य चिन्ता' सामने आई है। डॉ० देवराज के समीक्षक रूप का अध्ययन इन पुस्तकों के आधार पर ही हो सकता है।

'छायावाद का पतन' में निष्पक्ष भाव से छायावाद की परीक्षा की गई है तथा इसके साथ ही अन्य साहित्यिक अनौचित्यों पर विचार भी किया गया है। छायावाद का पतन किन कारणों से हुआ है इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'कल्पनाधिक्य' को छायावाद के पतन का मुख्य कारण कहा है। इस कल्पना के आधिक्य से पाठक और वास्तविकता के बीच व्यवधान उपास्थित होता है तथा बथार्थ की पूरी पकड़ नहीं हो पाती। कल्पनातिशय को छायावादी अपनी अनुमाति की रहस्यात्मकता के फलस्वरूप बतलाते हैं पर डॉ० देवराजजी उसे उनकी भूल बतलाते हैं। जीवन-सम्बन्धी मूल्यों का मूल्यांकन करते हुए ही विभिन्न तथ्यों एवं दोषों का उद्घाटन उन्होंने किया है और जीवन-सम्बन्धी

इस भावना से प्रेरित होने के कारण ही यथार्थ के बाहर जानेवाली कल्पना को उन्होंने छायावाद की सबसे बड़ी कमजोरी कहा है। छायावादियों के शब्दमोह, चित्रमोह और कल्पनामोह का उल्लेख करते हुए उन्होंने उनकी केन्द्रापगामी व्यञ्जना-प्रवृत्ति का विचार किया है। परिशिष्ट के अन्तर्गत छायावाद की विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयत्न करके तथा शुक्लजी की छायावाद-सम्बन्धी धारणा पर अपना विचार प्रकट कर लेखक ने छायावाद पर विभिन्न दृष्टियों से मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

छायावाद के पतन के सम्बन्ध में वे निश्चित हैं और अपने इस निश्चय को इलाचन्द जोशी, पन्त, महादेवी आदि के साक्ष्य से सिद्ध करते दीखते हैं। लेखक के अपने सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर वह अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है। वे मानते हैं कि जा काव्य जाति या राष्ट्र के नैतिक और सामाजिक जीवन को अछूता छोड़ देता है वह पूर्ण काव्य नहीं है। छायावाद की कुछ विशेषताओं के रूप में 'धूमिलता' 'गुम्फन की सूक्ष्मता' और 'काल्पनिकता' को मान्यता देकर वे छायावाद के गुण-दोषों की परीक्षा करते हैं। उन्होंने दिखाया है कि छायावादी दृष्टि प्रकृति तक ही सीमित है और उसके कवि पक्षी, तिमिर, दीपक आदि की भाषा बोलते हैं। वे मानव के सुख-दुख पर ध्यान नहीं देते। छायावादी काव्य पर रोमांटिक प्रभाव था जिससे कला क्षेत्र में क्रान्ति का सन्देश प्राप्त हुआ, किन्तु क्रान्ति के पीछे जो बल चाहिए वह छायावाद में नहीं था अतः वह क्रान्ति के अनुप-युक्त रहा। छायावाद में स्थित 'मूड' को उन्होंने लोक संवेदना के लिए घातक कहा है।

'साहित्य चिन्ता' में आलोचना का अधिकार, साहित्य का मानदंड, साहित्य का प्रयोजन, युग और साहित्य आदि साहि-

त्यिक निबन्धों के अतिरिक्त अन्य निबंध भी हैं। साहित्य की आधुनिकतम प्रवृत्ति 'प्रयोगवाद' पर भी 'प्रयोगशील साहित्य' के अन्तर्गत विचार किया गया है। शुक्लजी का मूल्यांकन करने के बाद जैनेन्द्र की उपन्यास कला, छायावादी कवियों का कृतित्व आदि भी देखा गया है। डा० देवराज पर शुक्लजी और इलियट का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव-रस-सम्बेदना के क्षेत्र में अधिक लक्षित होता है। यथार्थ को सँजोने भर के लिए ही कल्पना की आवश्यकता उन्हें स्वीकार है। वे आलोचक में रस ग्रहण की क्षमता के अतिरिक्त कृतिविशेष को रसमय या 'नीरस' बनानेवाले उपादानों की ओर संकेत करने को योग्यता भी अपेक्षित मानते हैं। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने चिन्तन का पूर्ण उपयोग किया है तथा अपने मौलिक विचारों से साहित्य-जगत को लाभान्वित किया है। भाषा भाव की अनुगामिनी रही है। जहाँ भाव दुरुह हुए हैं वहाँ भाषा भी दुरुह हो गई है। कठिन से कठिन विचारों को भी चिन्तनपूर्ण तर्क के आधार पर लेखक ने सुलभा कर प्रस्तुत किया है। भाषा व्यवस्थित है किन्तु उसमें अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी धड़ल्ले से हुआ है। कैम्प, फरनीचर आदि ऐसे ही शब्द हैं।

नवीन साहित्य की विवेचना के लिए मौलिक और तत्त्व-स्पर्शिनी दृष्टि लेकर श्री नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया। वे रचना और लेखक के नन्ददुलारे मनोवैज्ञानिक उद्घाटन में प्रयत्नशील दीखते हैं। वाजपेयी] उनमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित होती है। वे शुक्लजी के सिद्धान्तों को भी आगे बढ़ाते दीखते हैं। रचना और रचनाकार के मनोवैज्ञानिक उद्घाटन में जहाँतक साहित्य का सम्बन्ध है, वाजपेयीजी पूर्ण

सफल हुए हैं। वाजपेयीजी ऊँचे दर्जे की सौन्दर्यसंवेदना, सामाजिक चेतना और काव्य-विवेक से सम्पन्न हिन्दी के एक प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्यिक उत्थान में इन्होंने अपनी विधायक प्रतिभा से पर्याप्त योग दिया है। हिन्दी-समीक्षा में पूर्वकालीन आलोचकों की अपेक्षा अधिक उदारवादी तथा व्यापक दृष्टि लेकर वाजपेयीजी आये।

समाज और साहित्य में गति और परिवर्तन को स्वाभाविक मानते हुए वे वर्तमान परिस्थिति में समाजवाद को ही प्रगतिशील शक्ति स्वीकार करते हैं। वे किसी साहित्येतर मतवाद से प्रभावित न होकर साहित्य के स्वतन्त्र मान का ही स्वीकार करते हैं। इन्होंने समाजिक परिस्थितियों के साथ ही साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण सतर्कता से अंकन किया है। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी की जो तीन कृतियाँ सम्मुख आई हैं, वे हैं : 'जयशंकरप्रसाद' 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी' 'आधुनिक साहित्य'।

'जयशंकर प्रसाद' में लेखक ने प्रसादजी के आरम्भिक काव्य-विकास को दिखलाते हुए उनके प्रौढ़तर प्रयोग 'कामायनी' का अनुशीलन व विवेचन किया है। 'प्रसादजी' की सामाजिक भावना के उत्थान और नवीन दार्शनिक आयोजन की चर्चा के बाद परिशिष्ट में उनके नाटकों की मौलिकता, उनका साहित्यिक व्यक्तित्व और उनके व्यक्ति रूप की भल्लक प्रस्तुत की गई है। वाजपेयीजी का दृढ़ मत है कि कामायनी का उच्चतम आध्यात्म भी जीवन की सर्व-दिक् अनुभूतियों के अंतराल से प्रकट हुए निष्कर्ष के रूप में हैं। इन्होंने दिखाया है कि प्रसाद का काव्य वस्तुतः मानवीय भूमि पर खड़ा है। प्रसाद के रहस्यवाद को वे मानव-जीवन-व्यापार की नींव पर खड़ा मानते हैं। वे कहते हैं कि कामायनी के

अन्तिम सर्ग में 'मानसिक मन्तुलन' का संकेत आज की समस्याओं के समाधान स्वरूप है। उनके अनुसार प्रसादजी की भाषा क्रमशः सरल होती गई है। वाजपेयीजी के इस कथन से कोई विरोध नहीं हो सकता कि प्रसादजी के आध्यात्म की नींव 'मानव जीवन का व्यापार' ही है; किन्तु प्रसादजी जनता के कवि नहीं कहे जा सकते। उनकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि वह भारतीय जनता के लिए दुर्ग्राह्य हो जाती है। प्रसादजीकी भाषा उत्तरांतर सरल नहीं बल्कि क्लिष्ट ही होती गई है। कामायनी में प्रयुक्त भाषा इसे प्रमाणित करती है।

'हिन्दी साहित्यः बीसवीं सदी में कवि और लेखकों पर विचार किया गया है। पुस्तक के लिखने में लेखकों की अपेक्षा प्रवृत्तियों पर अधिक ध्यान रहा है। इसके परिणामस्वरूप ही कई अच्छे कवि और लेखक छूट गए हैं। समीक्षाओं का प्रस्तुत करने में वाजपेयीजी ने रचनाकार की अन्तर्वृत्तियों, उसकी मौलिकता, उसकी रीति, शैली आदि के साथ ही उसके समय और समाज तथा उसकी प्रेरणा का अध्ययन किया है। कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों को भी दृष्टि में रखने का प्रयास किया गया है। समीक्षा-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण रखते हुए भी वे 'वच्चन' के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'निराशा और पराजय से आक्रान्त ये अनुभूतियाँ हमारे साहित्य में कौन-सा स्थान ग्रहण करेंगी।' इसी आधार पर उन्होंने 'वच्चन' की कड़ी आलोचना की है। यह ठीक है कि निराशा भी जीवनगत अनुभूति ही है। अतः उसकी अपेक्षा नहीं हो सकती, पर जब वह एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन के रूप में सामने आती है तो उसका प्रभाव मंगलकारी नहीं हो सकता।

'आधुनिक साहित्य' में सन् १९०० से १९५० तक के साहित्य

की चर्चा की गई है। पुस्तक की भूमिका से अर्ध-शताब्दी के साहित्य का सामान्य परिचय सुन्दर ढंग से कराया गया है। प्राचीन और नवीन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद नव्यतर प्रगति पर विचार हुआ है। नाट्यसाहित्य, उपन्यास और कहानी पर विचार करने के बाद लेखक ने समीक्षा और समीक्षा की प्रगति पर विचार प्रकट किया है। व्यावादा काल की एकदम आरम्भिक स्थिति का विचार करते हुए वाजपेयीजी ने जिन कारणों का उल्लेख किया है वे हैं—बदला हुआ पारिवारिक वातावरण, विगत महायुद्ध, पश्चिमी साहित्य और विचारों का संपर्क, गाँधीजी और राष्ट्रीय संग्राम।

वाजपेयीजी की भाषा सशक्त है। उनकी आलोचनाओं में कहीं-कहीं विचारों की जटिलता के कारण उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के लिए अंगरेजी शैली का प्रभाव भी ग्रहण किया गया है।

अपनी विवेचनात्मक शक्ति का उपयोग कर कवि श्री राम-कुमार वर्मा ने आलोचना के क्षेत्र में भी अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। व्यावहारिक समीक्षा के रूप में [रामकुमार वर्मा] उनकी तीन कृतियाँ : १—साहित्य समालोचना २—कवीर का रहस्यवाद ३—विचार दर्शन सामने आई हैं।

‘साहित्य समालोचना’ में कविता, कहानी, नाटक और आलोचना पर लेखक ने विचार किया है। इन विषयों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने की अपेक्षा उनका सामान्य परिचय, गुण-दोष कथन और उनके स्थूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही हुआ है। कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा के माधुर्य की स्तुति करते हुए भी वे वर्तमान समय में उसे अनुपयुक्त ठहराते हैं। ‘कहानी

और उपन्यास' शीर्षक निबन्ध में कहानी और उपन्यास में आकार भेद के अतिरिक्त कहानी में व्यापार की एकता और एकलक्षता आवश्यक बतलाकर उन दोनों के स्वरूप भेद का भी कथन किया गया है। 'समालोचना' में उन्होंने आलोचक को राग-द्वेष से परे रहने का संकेत दिया है।

'कवीर का रहस्यवाद' में 'रहस्यवाद' से परिचय कराने के बाद रहस्यवाद के क्षेत्र में 'अध्यात्मिक विवाह' का रूप और 'गुरु' का सम्बन्ध निश्चित किया गया है। कवीर पर 'हठयोग' और 'सूफी मत' का प्रभाव स्पष्ट करने के बाद उन्होंने कवीर के जीवन का विवरण संप्रेषित किया है। वे 'मैं, मेरा और मुझ' के विनाश को रहस्यवाद का आवश्यक अंग मानते हैं; किन्तु यदि उसे आवश्यक मान लिया जाये तो 'विग्रह में चिर' रहनेवाली महादेवी को रहस्यवाद से अलग करना होगा।

'विचार दर्शन' के 'कवीर का दर्शन' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कवीर के दर्शन को चार भागों में—१—ईश्वर सम्बन्धी दर्शन २—जीवात्मा सम्बन्धी दर्शन ३—साधना सम्बन्धी दर्शन और ४ अद्वैतवादी तथा सूफी भावना में बाँटा है। 'तुलसी के राम' में वर्माजी ने दिखाया है कि राम का मानवीय रूप दिखाते हुए भी तुलसी, उनके ब्रह्म की सत्ता को भुला नहीं सके हैं और उनके उस रूप की याद दिलाते रहे हैं।

आलोचना के क्षेत्र में श्री रामकुमार वर्मा की ईमानदारी इस रूप में दिखाई देती है कि उन्होंने विषय को जिस रूप में समझा है, उसे वैसे ही रखने का यत्न किया है। भाषा की स्पष्टता ने उन्हें विचारों के प्रपण की स्पष्टता दी है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षकों में पं० विश्वनाथप्रसादजी का अपना स्थान है।

शुक्लजी की तरह वे भी सिद्धान्तों के आधार विश्वनाथप्रसादमिश्र] पर आलोच्य का आलोचन करना उचित समझते हैं। भाव-तत्त्व का विचार करते समय वे रसज्ञा और कलावादियों दोनों के ही विचारों को कसौटी रूप में स्वीकार करते हैं। 'भूषण ग्रन्थावली', 'विहारी की वाग्विभूति', 'विहारी' तथा 'हिन्दी का समसामयिक साहित्य' आदि प्रस्तुत कर उन्होंने सिद्धान्तों की व्यावहारिकता का प्रमाण दिया है।

'भूषण ग्रन्थावली' की भूमिका में 'हिन्दी साहित्य में वीर काव्य' की स्थिति का स्पष्टीकरण करने के बाद लेखक ने वीर काव्य के तीन उत्थानों की चर्चा की है तथा द्वितीय उत्थान के क्षेत्र में शुद्ध वीर रमात्मक कविता लिखनेवालों में भूषण को स्थान दिया है।

'विहारी की वाग्विभूति' में विहारी की विशेषताओं का सम्यक् निरूपण हुआ है। आरम्भ में जानकारी के लिए कवि की जीवनी संक्षिप्त रूप में दी गई है। उनके अनुसार विहारी प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र नहीं थे बल्कि किसी और कवि के पुत्र थे जिसका नाम भी केशव था और जो केशवराय के नाम से कविता किया करता था। जीवनी के बाद आलोच्य के समय की लोक रुचि, सतसई की परम्परा तथा उस परम्परा में विहारी के स्थान पर विचार प्रकट किया गया है। उन्होंने दिखाया है कि विहारी की जानकारी कैसी थी तथा उन पर बाह्य प्रभाव किस हद तक पड़ा था। विहारी की भक्ति-भावना, भाव व्यंजना तथा भाषा पर भी विचार हुआ है। अवगुणों की अपेक्षा गुणों का कथन अधिक हुआ है, जो समीक्षक की सम्बेदनशीलता का परिचायक है।

'विहारी' का प्रकाशन सं० २००७ में हुआ। लेखक को,

विहारी पर हुए नवीन ग्योजों ने, नये सिरे से 'विहारी' पर कुछ लिखने के लिए बाध्य किया जिसके परिणाम स्वरूप 'विहारी' सामने आई। उनकी दृष्टि में रीति काल को शृंगारकाल कहना अधिक उचित लगता है। वे इस काल को रीतिवद्ध और रीतिमुक्त जैसी दो धाराओं में विभाजित करते हैं। पुस्तक के आरम्भ में शृंगारकाल के नामकरण, विभाजन, सीमा और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में समीक्षक ने अपना विचार प्रकट किया है। 'रीतिमुक्त स्वच्छन्द धारा', 'रीति वद्ध काव्य', 'रीति सिद्ध कवि, आदि के स्वरूप और लक्षण बतलाने के बाद 'मुक्तक' का स्वरूप उद्घाटित करते हुए लेखक ने विहारी पर विचार किया है।

'हिन्दी का समसामयिक साहित्य' में 'साहित्य और लोक-जीवन', 'भारतेन्दु', 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', 'वर्तमान काव्यधारा', 'प्रगतिवाद' आदि पर विचार किया गया है।

इस प्रकार पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की समीक्षा से खोज के साथ ही सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य पर विचार मिलता है। चुस्त भाषा में वे विभिन्न मतों को देने के बाद सूत्र रूप में अपना विचार व्यक्त करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में वे व्यावहारिक समीक्षा की अपेक्षा सिद्धान्त की बात लिखना ही पसन्द करते हैं। भरण ग्रन्थावली के पृष्ठ ६ पर उन्होंने स्वयं कहा है कि 'हम पुस्तक में सिद्धान्त की बात लिखना ही पसन्द करते हैं। विवाद के लिए तो पत्रिकाएँ हैं ही।' सिद्धान्तों के प्रति अनुराग का आधिक्य हाने के बाद भी व्यावहारिक समीक्षा को वे छोड़ नहीं सके हैं। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में जिस सफलता का परिचय उन्होंने दिया है वह उनके आलोचक रूप के अनुकूल ही है। शुक्लजी के विचारों को मान्यता देने के साथ ही उन्होंने जगह-

जगह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का भी उपयोग किया है। उनकी समीक्षा राग-द्वेष की भावना से परे रहकर ही प्रस्तुत हुई है।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी स्वच्छन्दतावादी भावुक आलोचक हैं। आयावाद और रहस्यवाद की ओर लोगों को आकृष्ट करने की

उनकी प्रवृत्ति ने उन्हें मधुर-मधुर पदावली का शान्तिप्रिय द्विवेदी] आश्रय लेने के लिए बाध्य किया है और

अपने विचारों और उद्गारों को सरल तथा कवित्वपूर्ण भाषा में अभिव्यक्त करना ही उन्हें रुच सका है। उनकी कृतियों में उनकी भावुकता, उनकी सद्व्यता और उनकी अनुभूति, स्पष्टतः झलका करती हैं। उनकी आलोचना में कार-यित्री प्रतिभा का योग सर्वत्र दीखता है। उनके आलोचक रूप में ही उनका दार्शनिक एवं कवि रूप भी मुखर होता रहता है।

नूतन और मार्मिक शब्द-चित्रों से युक्त गद्य काव्य की भाषा में जिन कृतियों को उन्होंने प्रस्तुत किया है वे हैं—हमारे साहित्य निर्माता, कवि और काव्य, साहित्यकी, संचारिणी, युग और साहित्य, सामयिकी और ज्योतिर्विहग। गद्य काव्य की भाषा के साथ ही उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त अंग्रेजी के शब्दों का पुट लिए हुए है। अंग्रेजी शब्दों का इतना बहुल प्रयोग ठीक नहीं जँवता।

आलोचना करते समय दोषों की छानबीन करने की अपेक्षा गुणों का विवेचन करने में ही वे अधिक संलग्न दीखते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे 'सृष्ट्याभ्यवहारी समीक्षक' हैं। वे वस्तुतः 'तत्त्वाभिनिवेशी भावक' प्रतिभा लेकर आलोचना क्षेत्र में आए हैं। मत्सरी वृत्ति न होने के कारण, दोषों के संकेत की अपेक्षा गुणों का कथन, वे अधिक करते हैं।

'हमारे साहित्य निर्माता' में साहित्य निर्माताओं का हल्का-

सा परिचय कराने के बाद द्विवेदीजी ने 'कवि और काव्य' में कला और काव्य की मीमांसा तथा प्राचीन और नवीन काव्यों की विवेचना कर, हमें हिन्दी साहित्य से परिचित कराया है। 'साहित्यिकी' और 'संचारिणी' में आधुनिक हिन्दी कविता की विशद् व्याख्या हुई है। इस पुस्तक में कवियों एवं कवयित्रियों का परिचय देने के साथ ही साहित्य के इतिहास के काल विभाजन का भी प्रयत्न किया गया है पर ऐसा करते समय केवल कविता पर ही दृष्टि रखी गई है। हिन्दी कविता का काल विभाजन करने के बाद उन्होंने आयावाद को चार विभागों में विभाजित किया है। 'युग और साहित्य' में हिन्दी साहित्य को सामाजिक और राजनैतिक प्रभूमि में देखा गया है। लेखन-काल की परिस्थितियों ने लेखक को समाजवाद का स्वर उठाने के लिए बाध्य किया है। पर वे इस विचारधारा में रम नहीं पाते। मानवतावाद-गान्धीवाद का उन पर गहरा प्रभाव है। 'सामयिकी' में उन्होंने समाजवाद को समाज और साहित्य की विषम समस्याओं का हल करनेवाला तथा गांधीवाद को 'विश्व कल्याण की कुंजी' कहा है। 'ज्योतिर्विहग' में 'पंतजी' पर विस्तृत विचार प्रस्तुत करने के साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास पर भी विचार किया गया है।

वे नवीनतम धाराओं से परिचित होकर आगे बढ़ रहे हैं। 'मानवता' की दृष्टि तथा 'रोमांटिक शैली' के कारण उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक नई दिशा दी है।

हिन्दी साहित्य को समाज से जोड़कर आलोचना प्रस्तुत करनेवाले मानवतावादी आलोचक श्री हजारी हजारीप्रसाद द्विवेदी] प्रसादजी द्विवेदी ने आलोचना में जीवन-तत्त्व की स्थापना की है। वे शास्त्रीय पुट के साथ ही नवीन विचारधारा से समन्वित समीक्षा प्रस्तुत करने के कारण

समीक्षा में अधिक वैज्ञानिकता का समावेश करते दीखते हैं। समाजशास्त्र का पर्याप्त अध्ययन करने के कारण उनकी समीक्षा में समाजगत भावनाओं का रचनात्मक पहलू भी भली-भाँति लक्षित हो जाया करता है।

संस्कृत से हिन्दी के क्षेत्र में आने के कारण स्वभावतः ही आचार्य-परम्परा की दीक्षा उन्हें प्राप्त हो गई है। रवि वात्रू के प्रभाव के रूप में जो संवेदनशीलता उनमें जगी उसके परिणाम-स्वरूप वे अधिक मानवतावादी हो गए हैं और इस संवेदनशीलता के कारण ही उनमें स्वच्छन्दतावादी वृत्ति नहीं पनप सकी है। उनकी अनुभूतियाँ विस्तृत और व्यापक हैं।

पुस्तक रूप में विचार प्रकट करते समय तो उन्होंने निबंध की कसी हुई चुस्त भाषा के साथ ही व्याख्यात्मक पद्धति का अनुसरण किया है; किन्तु स्फुट लेखों में विचार की शैली कहीं तो व्याख्यात्मक रही है और कहीं व्यक्तित्व प्रधान निबंधों अथवा डायरी की-सी। 'कल्पलता', 'अशोक के फूल' आदि में व्यक्त किए गये विचार मुख्यतः व्यक्तिप्रधान लेख की शैली में ही हैं। भाषा पर लेखक का पूर्ण अधिकार है।

हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला साहित्य के मन्थन के बाद जिन व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकों को पंडितजी ने प्रस्तुत किया है, वे हैं : 'सूर साहित्य', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'कवीर', 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार', 'कल्पलता', 'प्राचीन भारत में कला-विनोद', 'मध्यकालीन धर्म साधना' आदि। उनके अतिरिक्त 'साहित्य के साथी' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' भी उन्हीं की कृतियाँ हैं, पर वे क्रमशः सैद्धान्तिक व ऐतिहासिक क्षेत्र में आती हैं, अतः उनसे यहाँ प्रयोजन नहीं है।

'सूर साहित्य' में मुम्पट्र भाषा में उन्होंने भक्ति-तत्त्व, प्रेम-तत्त्व

राधाकृष्ण मतवाद आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। मूरदास की साधना को उनके युग और समाज की भूमिका में देखकर, उनकी शुद्ध साहित्यिक समीक्षा करते हुए, उन्होंने मूरदास के पात्रों व अन्य वैष्णव कवियों के पात्रों की तुलना करके चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति पर मूर का मूल्यांकन किया है।

‘कवीर’ में शोध का कार्य अधिक है। कवीर की जाति के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने के लिए कितनी कथाओं, जनगणना की कितनी ही संख्याओं आदि पर विचार किया गया है। इसके बाद ‘अवधूत’ के सम्बन्ध में मत देते हुए उन्होंने गोरखपन्थी अवधूत की परिभाषा को मान्यता दी है और कवीर के आदर्श रूप में इस अवधूत को ही स्वीकार किया है। कवीर को नाथ-पंथियों से प्रभावित बताकर सांकेतिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उनके द्वारा सम्पादित हुआ है।

उन्होंने दिखाया है कि कवीर ने कर्म के आगे ज्ञान की प्रतिष्ठा की है तथा सहज साधना को स्वीकृति दी है और भक्ति के क्षेत्र में न उतरनेवाली खुमारी लेकर आने के कारण वे महिमाशाली हुए हैं। अन्त में ‘भारतीय धर्म साधना’ में कवीर का स्थान निश्चित कर, उनके भगवत्प्रम-सम्बन्धी आदर्श की सूचना दी गई है।

‘विचार और वितर्क’ विभिन्न साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। ‘समीक्षकों की समीक्षा’ में समीक्षा पर विचार करने के बाद ‘गिरिश’, ‘सुमन’ व ‘रामनरेश त्रिपाठी’ की समीक्षा पद्धति पर विचार हुआ है। ‘कवि के रियायती अधिकार’ में लेखक ने बताया है कि मात्रिक छंद में माधुर्य के साथ करुण भाव की अभिव्यक्ति होती है। आज मात्रिक छंद ही व्यवहृत हो रहे हैं किन्तु इन मात्रिक छंदों का उपयोग भी भाव के अनुकूल नहीं

हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'प्रेमचन्द', 'कामायनी', 'हिन्दी के भक्ति-साहित्य', 'मधुर-रस की साधना' आदि पर भी विचार किया गया है।

अशोक के फूल' में कुछ साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्ध हैं और कुछ व्यक्ति प्रधान निबन्ध निबन्ध। 'धर जोड़ने की माया' में द्विवेदी जी ने दिखाया है कि 'ईर्द गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबरदस्त साबित हुआ है। उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है।' 'सावधानी की आवश्यकता' शीर्षक निबन्ध में साहित्य का कर्तव्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि मनुष्य का अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और पर-मुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है।' मानवतावादी समीक्षक के रूप में उन्होंने मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य निश्चित किया है और एक निबन्ध में स्वयं कहा है कि 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।'

'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार' नामक पुस्तक के लिखने के मूल में मानव जीवन को उन्नत करने और देवोपम बनाने का ही लक्ष्य रहा है। लिपि में काव्य-विलास ही नहीं चिन्तन को समाविष्ट करने की शक्ति का होना भी वे आवश्यक ठहराते हैं। वे मानते हैं कि प्रगतिशील साहित्य की रचना उस संकल्प के कारण हो रही है जिसका उद्देश्य मनुष्य जाति को दुर्गति के पंक से बचाना है। अन्त में महादेवी के 'नीरजा', रामकुमार के 'चित्ररेखा' तथा सियारामशरण के 'रेणुका' और पन्त के ऊपर आलोचनात्मक ढंग पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

'कल्पलता' में साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती हैं और

साहित्य का नया कदम क्या होना चाहिए आदि प्रश्नों पर विचार कर द्विवेदीजी ने साहित्यिक समस्याओं से अवगत कराया है।

द्विवेदीजी की कृतियों पर विचार कर लेने के बाद निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने अपने आलोचक रूप को सर्वांग बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। वे प्राचीन चिन्ता धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी नवीन के प्रति भी पूर्ण जागरूक हैं। उनकी यह विशेषता उन्हें अन्य समीक्षकों से अलग खड़ा कर देती है।

साहित्यिक या व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में श्री इन्द्रनाथ मदान की "हिन्दी के कलाकार" और श्री विविध उमेश मिश्र की "विद्यापति" महत्वपूर्ण हैं।

श्री कृष्णशंकर शुक्ल की दो पुस्तकें "कविवर रत्नाकर" और "केशव की काव्य कला" उल्लेखनीय हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल की शैली पर ही सिद्धान्तों को सामने रखकर आलोच्य कवियों और कृतियों का अध्ययन श्री कृष्णशंकर शुक्लजी ने भी किया है। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने "प्रसाद के दो नाटक" में यद्यपि मत्सरी दृष्टिकोण से स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त पर विचार किया है तथापि उसके कतिपय तथ्य विचारणीय भी हैं।

श्री प्रणाप्रसाद पाण्डेय ने इस क्षेत्र में कई कृतियाँ भेंट की हैं। 'महादेवी वर्मा', 'निबंधिनी', 'नीरक्षीर', 'कामायनी: एक परिचय' और 'महाप्राण निराला' आदि उनकी विभिन्न कृतियाँ इसी क्षेत्र में आती हैं। छायावादी युग में वे छायावादी आलोचक के रूप में दोख पड़े। जहाँ तक छायावाद पर विचार का प्रश्न है वह सुन्दर हुआ है किन्तु उसके बाहर आने पर वे कच्चे सिद्ध हुये हैं।

श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने "गुप्तजी की काव्य-धारा" और "महाकवि हरिऔध" नामक दो पुस्तकें लिखी हैं।

उनकी आलोचना निर्णयात्मिका पद्धति पर होती है। आलोचना करते समय वे आलोच्य के सम्बन्ध में प्रश्न बनाकर क्रमशः एक-एक का उत्तर देते चलते हैं।

श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र की “साहित्य की वर्तमान धारा” तथा श्री जनार्दनप्रसाद द्विज की “प्रेमचन्द की उपन्यास कला” नामक पुस्तकें भी व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में महत्व रखती हैं। विद्यापति पर श्री जनार्दन मिश्र ने जो कार्य किया है वह महत्वपूर्ण है। विद्यापति में रहस्य-भावना का प्रतिपादन करते हुए मिश्र जी ने कहा है कि “स्त्री और रूष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी, उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया है। हिन्दू शास्त्रों के पण्डित होने के कारण उन्हें रहस्यवाद के सिद्धान्तों को गद्या-कृष्ण, शिव-पार्वती, सीताराम अथवा जीवात्मा-परमात्मा की साधारण स्थिति के वर्णन द्वारा अनुभव करने और कराने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती थी।”

श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने ‘त्रजलोक साहित्य का अध्ययन’ ‘प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला’, ‘गुप्तजी की कला’, ‘साहित्य की भाँकी’ आदि विभिन्न छात्रोपयोगी पुस्तकें प्रस्तुत की हैं।

श्री नलिनबिलोचन शर्मा कला या साहित्य में ग्राम्यता को अनिवार्यता देते हैं। वे इस युग को परिभाषाओं का नहीं बल्कि उसकी प्रतिक्रिया का युग मानते हैं। लक्षण ग्रन्थों का बहुत कम आश्रय उन्होंने लिा है। ‘दृष्टिकोण’ में उनके विचार व्यक्त हैं।

सुश्री पद्मावती शबनम की ‘मीरा : एक अध्ययन’, श्री पद्म सिंह शर्मा ‘कमलेश’ की ‘बिहारी की सनसई’, श्री प्रभुनारायण

मित्तल की 'सूर निर्णय' तथा श्री प्रेमनारायण टंडन की ज्ञात्रो-
पयोगी पुस्तकें तथा 'प्रेमचन्द व ग्राम समस्या' आदि भी व्याव-
हारिक समीक्षा के क्षेत्र की पुस्तकें हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त
ने भी प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में कुछ कार्य किया है।

श्री ब्रजरत्नदास द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर पर्याप्त सामग्री
प्राप्त हुई है। श्री विश्वम्भर 'मानव' का आलोचक रूप उनकी
तीन पुस्तकों—'महादेवी की रहस्य साधना', 'खड़ी बोली के
गौरव ग्रन्थ' तथा 'सुमित्रानन्दन पन्त' से जाना गया है। उन्हें
कृतियों का विश्लेषण करना रुचता है और कृतिकार के व्यक्तित्व
का परिचय कराकर विश्लेषण करने की पद्धति ही उनकी
समीक्षा में दृष्टिगत होती है। श्री विनयमोहन शर्मा तथा श्री वच्चन
सिंह के नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। श्री वच्चन सिंह के
'क्रान्तिकारी कवि निराला' में विषय के प्रतिपादनार्थ तथ्यों
की अच्छी खोज हुई है। इसमें इन्होंने नये ढंग से कवि की
वैयक्तिक, कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच
में उसकी कृतियों को रखकर उनका अच्छा विश्लेषण
किया है।

श्री रघुवंश की "हिन्दी काव्य में प्रकृति", श्री रामधारी सिंह
"दिनकर" की "मिट्टी की ओर", श्री रामलाल सिंह की
"कामायनी अनुशीलन" श्री रामनाथ "सुमन" की "कविप्रसाद
की काव्य साधना" तथा "तुलसीदास और उनकी देन", श्री
रामखेलावन पाण्डे की "गीत काव्य" और श्री रामरतन भट-
नागर की "एक अध्ययन : सिरिज" का भी अपना महत्व है।

श्री सत्येन्द्र की समीक्षाओं में कृतिकार की एक-एक कृतियों
को देखने का प्रयास दीखता है। "गुप्तजी की कला" निरखने
में उनकी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है। "प्रेमचन्द और उनकी

कहानी कला”, “ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन” और ‘साहित्य की भाँकी’ प्रस्तुत कर उन्होंने अपने समीक्षक रूप का परिचय दिया है। प्रसिद्ध गीतकार श्री शम्भूनाथ सिंह के बृहद् ग्रन्थ ‘आयावाद-युग’ में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर आयावाद को परखने का प्रयास हुआ है। लेकिन इसमें ‘काड-वेल’ के शब्दशः विचारों की विस्तृत उद्धरणी के साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति का समन्वय नहीं हो पाया है। शास्त्रीय प्रसंगों में पं० रामदहिन मिश्र के विचारों से पुस्तक अनावश्यक रूप से आच्छादित हो गई है। इतना होने पर भी लेखक के बृहत् समन्वयात्मक प्रयास का, प्रयास के रूप में महत्व मानना चाहिए। श्री शिवनाथजी ने “आचार्य रामचन्द्र शुक्ल” में समीक्षा क्षेत्र में शुक्ल जी के पूर्व की स्थिति को बतलाने के बाद शुक्ल जी के स्थान का निरूपण किया है। ‘अनुशीलन’ और “मीमांसिका” भी व्याख्यात्मक पद्धति पर ही लिखी गई है। श्री शिखरचन्द्र जैन की ‘सूर : एक अध्ययन’, ‘प्रसाद का नाट्य चिन्तन’, ‘हिन्दी नाटक’ और ‘हिन्दी के तीन प्रमुख नाटककार’ आदि पुस्तकें भी इसी क्षेत्र में आती हैं। श्री श्रीकृष्ण लाल ने ‘मीराबाई’ और ‘मानस दर्शन’ नामक दो पुस्तकें दी हैं। ‘मानस दर्शन’ में पात्रों के जीवन चरित्र के अनिश्चित यदि कुछ महत्वपूर्ण हैं तो वह ‘तुलसी की धार्मिकता’ सम्बन्धी प्रकरण है। श्री शिवनारायण जी की ‘हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार’, ‘हिन्दी उपन्यास’ और श्री शिवनन्दनजी की ‘हिन्दी कविता का अध्ययन’ आदि भी विचारणीय हैं। सुश्री ज्ञानवतीजी की ‘घनानन्द’ नये शोधों और काव्यविवेचन के कारण महत्वपूर्ण पुस्तक हो गई है।

व्याख्यात्मक समीक्षकों में श्री वामुदेवशरणजी, राहुलजी,

रांगेय राघवजी तथा डा० मोतीचन्द आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। इन लोगों के समीक्षा में सांस्कृतिक चेतना है और इनके विचार समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। एक समय एक प्रकार का मत दिया जाता है तो दूसरे समय उसके विरुद्ध-मत देने में भी ये समीक्षक हिचकते नहीं। श्री ललिताप्रसाद शुक्ल ने काव्यचर्चा और साहित्य-जिज्ञासा से अपने व्याख्यात्मक निबन्धों का परिचय दिया है। ये गमवादी समीक्षक हैं।

भाषा के सम्बन्ध में व्याख्या प्रस्तुत करनेवाले तथा विश्लेषण करनेवाले भाषा वैज्ञानिक समीक्षकों में डा० वावूराम मक्रमेना तथा डा० धीरेन्द्रवर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सरल ढंग से इन लोगों ने भाषा विज्ञान जैसे जटिल विषय का विश्लेषण किया है। इस क्षेत्र में श्री भोलानाथ तिवारी, श्याम परमार, रामाज्ञा द्विवेदी, मोतीलाल मीनारिया, मुनद्र भा आदि का नाम भी स्मरणीय है। इन लोगों ने जनपदीय भाषाओं पर कार्य किया है। भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में इनकी व्याख्यायें भी व्याख्यात्मक समीक्षा के क्षेत्र में ही आती हैं।

हिन्दी भाषा के लेखकों ने आत्मालोचन भी किया है। अपनी पुस्तक की भूमिकाओं के रूप में इन लेखकों ने अपने कृतियों के सम्बन्ध में व्याख्यात्मक वक्तव्य दिया है। अपने नाटकों की भूमिका में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जो कुछ कहा है या अपने काव्य के सम्बन्ध में पंत, निराला या महादेवी ने जो कुछ कहा है, वह इसी कोटि की समीक्षा के रूप में है। अतः इसे हम व्याख्यात्मक समीक्षा के क्षेत्र में आत्मालोचन-मूलक समीक्षा कह सकते हैं।

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में अपनी चि का प्रदर्शन घातक

होता है । शुक्लजी व्यावहारिक समीक्षा के विकास की दिशा] क्षेत्र में भी अपनी रुचि का त्याग न कर सके थे किन्तु उनके बाद के समीक्षकों में उनकी इस पद्धति का अनुसरण केवल श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र और श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने ही किया । इन समीक्षकों के अतिरिक्त समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले अन्य समीक्षकों ने शुद्ध व्याख्यात्मक दृष्टि ली । छायावादी दृष्टि को श्री शान्तिप्रिय ने अप्रसर तो किया किन्तु अपनी रुचि को सिद्धान्त रूप में लादने की ओर वे भी नहीं बढ़े । शुक्लजी की समीक्षा में बुद्धि-वैभव और पांडित्य का गौरव था शुक्लजी की सभी विशेषताओं के साथ स्वच्छन्दतावादी स्फूर्ति को मिलाकर श्री नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने नई समीक्षा प्रस्तुत की । शुक्लजी में संवेदनात्मक तत्व था, पर युगानुरूप सामाजिक भावना उतनी विकसित न थी जितनी पण्डित हजारीप्रसादजी में है । इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लोत्तर समीक्षा के विकास में हृदयपक्ष की प्रधानता, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का मिश्रण और संवेदनात्मक तत्व की प्रधानता लक्षित हुई है ।

अध्याय ५

: वादोन्मुखी समीक्षा :

समीक्षा की विभिन्न धाराओं पर विचार करने के बाद कुछ ऐसा बोध होने लगता है कि आधुनिक समीक्षाएँ वस्तुतः सैद्धान्तिक अर्थात् शास्त्रीय या साहित्यिक अर्थात् व्याख्यात्मक जैसी किसी श्रेणी में आ जाती हैं, किन्तु समीक्षा की इन प्रणालियों के बीच विभिन्न प्रकार की आधुनिक मनोवृत्तियों के आधार पर समीक्षा व्याख्यात्मक होते हुए भी केवल व्याख्यात्मक ही न रह कर कुछ विशेष हो जाती है। व्याख्या के साथ मनोवृत्तियों का यह योग उसे एक नई श्रेणी में ला रखता है और प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणात्मक आदि समीक्षाएँ प्रस्तुत होती देखी जाती हैं। इन्हीं समीक्षाओं का एक वर्ग बना कर उसे 'वादोन्मुखी समीक्षा' का नाम देना मुझे कुछ अधिक संगत दखता है। 'वादोन्मुखी' शब्द भी सार्थक ही है क्योंकि इस प्रकार की समीक्षा प्रस्तुत करते समय आलोच्य में कला और सौन्दर्य देखने की अपेक्षा समीक्षक अपने दृष्टिकोण को देखने की ओर अधिक उन्मुख रहता है और 'वाद' की दृष्टि उसमें प्रधान हो जाया करती है। आधुनिक मनोवृत्तियों में दो वृत्तियाँ अधिक प्रमुख हो गई हैं और उन्हें 'वाद' की दृष्टि से ही कुछ समीक्षक प्रस्तुत कर रहे हैं। इन समीक्षकों के एक वर्ग को प्रगतिवादी की और दूसरे वर्ग को मनोविश्लेषणवादी की संज्ञा मिलती है। 'वादोन्मुखी समीक्षा' के इस प्रकरण में इन समीक्षकों का ही कथन उनके वर्गगत आधार पर होगा।

वर्ग १ : प्रगतिवादी समीक्षा

माक्सवाद के प्रभाववश ही प्रगतिवादी या माक्सवादी आलोचना को आलोचना की प्रमुख दृष्टि के रूप में स्वीकार किया गया है। इस श्रेणी के समीक्षक के पास दो प्रमुख प्रश्न होने हैं : १. कृति के निर्माण-काल की सामाजिक वास्तविकता क्या थी और कृति का उससे कैसा सम्बन्ध है ? २. कृति का तत्कालीन समाज पर कैसा प्रभाव पड़ा है।

माक्सवाद के अनुसार सत्ता मौलिक है और चेतना उसका विकार या प्रतिफलन। वे भौतिकवादी हैं और चेतन के ऊपर जड़ की प्रधानता का सिद्धान्त उन्हें मान्य है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे सांख्य मतवालों से कुछ मिलते दीखते हैं किन्तु दोनों का भेदक तत्व “समानता की माँग” है। माक्सवादी के लिये समानता की आवश्यकता अनिवार्य है, पर सांख्य वाले इसे अस्वीकार करते दीखते हैं। उनका कहना है कि समानता होने पर सृष्टि ही न रह सकेगी, अतः भेद का होना आवश्यक है।

‘समाजशास्त्रीय समीक्षा’ शीर्षक निबंध में डा० देवराज ने ‘आलोचना नं० १’ में अपने विचार प्रकट किए हैं। उनसे पूर्णतः सहमत होने के कारण उन्हीं के विचारों का सार माक्सवादी समीक्षा के स्पष्टीकरण के लिए देना मैं अच्छा समझता हूँ।

विश्व-सृष्टि में सामान्यतया जड़ तत्व की सत्ता पहले है, चैतन्य अथवा चेतना की बाद को। इस सिद्धान्त का ही विशेष रूप यह है कि सामाजिक चेतना अपने मूल रूप में सामाजिक सत्ता द्वारा निर्धारित की जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ

कि युग विशेष एवं समाज विशेष का साहित्य अनिवार्य रूप में अपने देश-काल की वास्तविकताओं को प्रतिफलित करता है। वह लेखक जो अपने युग से तटस्थ हो विगत युग की भावनाओं की पुनरावृत्ति करता है, अपने युग का प्रतिनिधि लेखक नहीं हो पाता।

श्रेष्ठ साहित्य युग-जीवों के तत्वों में ग्रथित होता है, वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता है। साथ ही वह युग-जीवन का दिशा निर्देश भी करता है और युग-जीवन को बदलनेवाली शक्ति पैदा करता है। मार्क्सवादी आलोचक साहित्यकार से यह माँग रखता है कि वह जनता अथवा उसकी मनोवृत्ति को एक विशेष ढंग से बदलने की प्रेरणा दे, उन्हें एक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार प्रगतिशील बनावे। इसी आधार पर वह कृति की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा उस पर निर्णय लागू करता है।

युग-जीवन से कृतियों का सम्बन्ध जोड़ कर आलोचक रसानुभूति कराने के साथ ही यह भी बतलाता है कि उन कृतियों का ऐतिहासिक परिवर्तनों से क्या सम्बन्ध है। इसके परिणामस्वरूप हमें साहित्य और युग दोनों को समझने में सहायता मिलती है। साहित्य के पूरे महत्व को हृदयंगम करने के लिए इसी हेतु समाज-शास्त्रीय दृष्टि आवश्यक है।

साहित्य के पूरे महत्व को हृदयंगम करने के लिए समाज-शास्त्रीय दृष्टि की आवश्यकता होते हुए भी उसके कुछ दोष द्रष्टव्य हैं। आलोचक को जीवन के स्थूल सामाजिक रूपों को ही न देख कर जीवन के सूक्ष्म स्पन्दनों पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। कृति में यथार्थ का चित्रण कहाँ तक हुआ है, इसे देखने में कल्पनागत सौन्दर्य को एकदम ठुकरा देना ठीक

नहीं। लेखक ने कृति में जिस सफलता और मार्मिकता और विशिष्ट जीवन का अंकन किया है, उस पर भी ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। यदि आलोचक प्रवृत्तियों में फँसकर इस ओर दृष्टि नहीं डालता तो उस समीक्षक की दृष्टि मत्सरी कही जावेगी और उसकी समीक्षा निम्नकोटि की मानी जावेगी। जब मार्क्सवादी आलोचक आलोच्य या कलाकार से एक विशिष्ट सिद्धान्त के प्रचार की माँग करने लगता है तब इस प्रकार खतरे की सीमा और भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में आलोचक भूल जाते हैं कि आलोच्य कृति में कोई रसमय सफल अभिव्यक्ति भी हुई है। उसे भूलने के कारण कला के मूल्य का वास्तविक अंकन नहीं हो पाता। रस-संवेदना के साथ ही समाज-शास्त्रीय दृष्टि को लिया जा सकता है, उससे अलग होकर नहीं। साहित्य में व्यक्त होनेवाला जीवन मनुष्य का साधारणीकृत जीवन है, किन्तु यह जीवन स्थूलतः सामाजिक समझने वाले का पर्याय नहीं है, उससे व्यापक है। रस-समवेदना के व्यापक सिद्धान्त से अलग होने पर समीक्षा मत्सरी हो जावेगी।

प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में प्रमुखतः श्री अमृतराय, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदान सिंह चौहान आते हैं। इस प्रकार की समीक्षा, शुक्लजी के बाद एक नए प्रकार की समीक्षा है और उसे समझने के लिए इन समीक्षकों पर विचार करना होगा।

स्फुट लेखों के अतिरिक्त 'नई समीक्षा' और 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' में श्री अमृतराय जी ने अपने प्रगतिशील विचार प्रस्तुत किए हैं। मार्क्सवादी आलोचना को वे अमृतराय] आलोचना के अनेक मानदंडों में से एक, लेकिन सबसे गतिशील और प्रबल मानते हैं। मार्क्स-

वादी आलोचना की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं कि 'मार्क्स-वादी आलोचना', साहित्य की वह समाज-शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलनेवाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आर्कषित करती है। वे उस साहित्य को ही जीवित साहित्य मानते हैं जो सामाजिक तत्वों से अनुप्राणित हो। रूढ़िवादी तत्वों की प्रामाणिकता दिखाने वाले साहित्य को वे मृत साहित्य मानते हैं। किन्तु रूढ़िवादी तत्वों में विचार तत्व गुणमूलक है और उसे अपनाया जा सकता है। प्रगतिशीलता के नाम पर अच्छी चीजों को छोड़ना ठीक नहीं लगता।

जीवन का परिचय पाने के लिए संवेदनशीलता, परदुःख-कातरता और सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता को आवश्यक मानते हुए वे प्रगतिशील लेखक में इन गुणों की आवश्यकता अनिवार्य मानते हैं। साहित्य को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, स्वतंत्रता प्राप्त करने का, समाज और व्यक्ति को बदलने का अस्त्र मानते हुए वे प्रगति के अगली राह को समझने के लिए 'लेनिन' की कसौटी को मान्यता देते हैं। इस कसौटी के आधार पर वे अपनी गलतियों को स्वीकार करना और जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पूरा करना आवश्यक ठहराते हैं। आत्म-आलोचना में ईमानदारी को मानने के कारण वे भी रामविलास शर्मा में आत्म-आलोचन की कमी देखकर, उनके ऊपर आलोचना करते दीखते हैं। आत्म-आलोचना के बीच उदार-पंथ को वे बाधक मानते हैं। केवल नारे-बाजी ही प्रगतिशीलता नहीं है, उसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शंकर शैलेन्द्र की प्रगतिशील

कहलानेवाली दो कविताओं का उद्धरण दिया है, जिसमें एक में नारे-बाजी नहीं है और दूसरे में है। साहित्य को पक्षधर 'पार्टीजन' होना आवश्यक मानते हुए भी यह कहते हैं कि साहित्य उसी पार्टी के लिए लिखा जा सकता है जिसने जनता के दिलों में घर बना लिया है। इससे साहित्य का पक्षधर होना नहीं सिद्ध होता बल्कि जनता की इच्छाओं का द्योतक होना सिद्ध होता है। साहित्य में संघर्ष का स्वर आवश्यक मानते हुए भी, सबसे संघर्ष के एक तीखे स्वर की माँग को गलत ठहराते हैं क्योंकि संयुक्त मोर्चे में कई वर्गों से आए हुए साम्राज्य विरोधी, सामन्त विराधी लेखक होंगे।

किसी कविता में मजदूर की जिन्दगी को 'घिनौना' कहा गया देखकर उस कविता को पलायनवादी कहना वे ठीक नहीं मानते। आलोच्य के मूल उद्देश्य और आलोच्य कृति के सामान्य प्रभाव को देखना ही वे आवश्यक ठहराते हैं। उनकी यह धारणा उन्हें उस दोष से मुक्त कर देती है जिसके कारण प्रगतिवादी समीक्षकों की समीक्षा दोषपूर्ण कही जाती है।

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिशील होते हुए भी व्यवहार में एकान्त प्रभाववादी हैं। उनकी रुचि नवीन प्रिय तथा सुसंस्कृत है। वे रागद्वेष से परे रह कर प्रगति को यथेष्ट प्रकाशचन्द्र गुप्त] सम्मान देते दीखते हैं। प्रगतिशील आलोचक होते हुए भी 'नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि' में उन्होंने छायावादी दृष्टिकोण को भी लिया है। उनमें छायावाद की कला के साथ ही मर्म को स्पर्श करने की शक्ति है। प्रगतिशीलता के साथ ही सहृदयता भी उनमें कम नहीं है। स्मृत पदावली में वे प्रगतिवादी बुद्धि और छायावादी हृदय से समन्वित समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

मनुष्य को निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करना पड़ता है और इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है। कला के जन्म के मूल में वातावरण से उत्पन्न इस संघर्ष को ही वे मान्यता देते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि आखेट-जीवन में भी कला के अणु थे और कला का विकास हुआ है। साहित्य को जीवन से बँधा मान कर वे कहते हैं कि जब वह जीवन से अलग हो जाता है, तभी उसका पतन शुरू हो जाता है। कविता की दो धाराएँ हैं : १ क्षीण धारा, जिसके कवियों को लिखने की प्रेरणा व्यक्तिगत जीवन की विषमताओं से प्राप्त होती है और जिसमें इस कारणवश एक हृद तक ही विकास होता है, में प्रतिनिधि रूप में श्री रामकुमार वर्मा और सुश्री महादेवी वर्मा आती हैं। २ तीव्रगामी धारा, जिसमें पन्त, निराला, नरेन्द्र आदि को माना जा सकता है।

फ्रायड के दृष्टिकोण को प्रकाशचन्दजी ने क्षयग्रस्त विलासी समाज का दृष्टिकोण माना है। उनके अनुसार 'फ्रायड ने मनुष्य के अन्तर्गत का जो विकृत नक्सा खींचा है, वह भी शाश्वत सत्य नहीं, बरन् क्षयग्रस्त विलासी समाज का नक्सा है'।

आलोचना को, छोटी-मोटी खूबियाँ छोड़ कर साहित्य के तल तक पैटना चाहिए, इस मत को मान्यता देते हुए वे कहते हैं कि उन्हें यह देखकर सन्तोष होता है कि पुराने महार्थियों का ध्यान भी प्रगतिवाद की ओर जा रहा है। किसी लेखक पर विचार करते समय वे उसके समय और परिस्थितियों पर विचार करते हैं। 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' पर विचार करते समय भी पहले प्रेमचन्द के समय और परिस्थितियों पर ही विचार किया गया है। आलोचना करते समय वे पहले कृति के वस्तु का कथन करते हैं, फिर उसके बाद उस पर विचार करते

हैं। 'श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी' पर विचार करते हुए उन्होंने ने उनकी आलोचना पुस्तकों का क्रम से परिचय और वस्तु देने के बाद, उनकी भाषा आदि पर मत निर्धारित किया है।

सरल भाषा और सुव्यवस्थित पदावली में समीक्षा प्रस्तुत करके, प्रगतिवादी समीक्षा के अवगुणों का स्वल्प मात्रा में परिहार भी किया है।

श्री रामविलासजी मार्क्सवादी सिद्धान्त और साहित्य का गंभीर अध्ययन करनेवाले प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षक हैं।

आरम्भ में छायावादी कला की परख करने की रामविलास शर्मा] वृत्ति लेकर वे आए किन्तु धीरे-धीरे पूर्णतः प्रगतिवादी बन बैठे। सैद्धान्तिक आग्रह बढ़ने के साथ ही उनका बुद्धि-पक्ष सबल हो उठा है और अनुभूति-पक्ष निर्बल होता गया है। सहानुभूति का गुण कम हो जाने के कारण वे यह समझने की कोशिश भी नहीं करते कि कृति के पीछे आलोच्य का उद्देश्य क्या है।

वे मानते हैं कि द्विवेदीयुग तथा छायावादी युग में भाषा-संस्कार और साहित्यिक-संस्कृत के वेश में व्यक्तिवाद हमारे हृदय में प्रवेश पा सका।

'निराला' नामक पुस्तक में उन्होंने 'छायावाद' का अच्छा विश्लेषण किया है। छायावाद में कुछ ऐसे तत्व का होना मानते हैं जिससे पुराण-पंथियों के दिल में खलबली मच गई। उनका कहना है कि छायावाद की काल्पनिकता से विमुख हो यथार्थ भूमि पर रह कर समाज के यथार्थ जीवन की ओर झुकने की भावना ने प्रगतिशीलता को जन्म दिया है।

संघर्ष जीवन का सार है, इस तत्व को पहचानने के कारण ही उन्होंने संघर्षशील कवि 'निराला' पर लिखना उचित समझा

है। 'निराला' की चिन्ताजनक परिस्थिति का उत्तरदायित्व समाज-व्यवस्था पर मानते हुए वे बतलाते हैं कि 'निराला' का जीवन सहृदय व्यक्ति के लिए एक चुनौती है कि वह सड़ी-गली व्यवस्था का अन्त करके एक नए समाज का निर्माण करे। बैसवाड़े के किसान की जागरूकता का प्रभाव भी उनपर अच्छी तरह पड़ा है। प्रेमचन्द्र की विस्तृत आलोचना के अतिरिक्त 'भारतेन्दु युग', 'प्रगति और परंपरा', 'साहित्य और संस्कृति', आदि उनकी और पुस्तकें भी सामने आई हैं।

भारतेन्दु के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने कहा है : 'जिन शब्दों में उन्होंने ग्राम-साहित्य अथवा लोक-साहित्य की आवश्यकता को व्यक्त किया है, वे हमारे लिए आज भी मैनी-फैस्टो के रूप में काम आ सकते हैं। भारतेन्दु ने देखा है कि ग्रामीण-भाषा ही हिन्दी की रीढ़ है और उसके विकास से हिन्दी का अधिक विकास हो सकेगा।' इस प्रकार के विश्लेषणों से भारतेन्दु की प्रगतिशीलता का वे परिचय देते हैं।

अध्ययन का गांभीर्य, निर्भीकता और स्वच्छन्दता होने पर भी वे आत्म-आलोचन के लिए तत्पर रहते हैं। श्री रामविलासजी की आलोचना दृढ़ और खरी होती है, किन्तु जब वे आप्रही हो उठते हैं तब उनकी आलोचना में साहित्यिक सहानुभूति का तत्व कम हो जाता है। यदि वे इस तत्व को भी अपने में विकसित कर लें तो उनकी आलोचना अधिक कल्याणकर हो सकती है। छायावादी दृष्टि का त्याग कर वे बुद्धिवादी तो हुए किन्तु हृदय-पक्ष उनसे एकदम न छूट जाय यह आशंका होती है। हृदय-पक्ष का समन्वय कर वे स्मीक्षा का उत्तम रूप दिखा सकते हैं।

आलोचना में मार्क्स के दृष्टिकोण को लेकर श्री रामविलास शर्मा बढ़ तो रहे थे किन्तु फिर भी प्रगतिवादी दृष्टि से देखने

वालों में सबसे पहले व्यक्ति श्री शिवदान सिंह शिवदान सिंह चौहान ही हैं। सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रगति की सीमा का निर्धारण किया है। प्रगतिवाद में पनपती हुई बौद्धिकता उनमें स्पष्टतः दीख पड़ती है। अध्ययन के बाद लिखना आरम्भ करने के कारण उनमें स्पष्ट निश्चय और विश्वास का होना पाया जाता है। प्रगतिवाद उनका स्वाभाविक चिन्तन हो गया है। उनमें न तो स्वच्छन्दता-वादी भावुकता है और न तो बौद्धिक उत्तेजना। कट्टरपंथी न होने के कारण वे छायावाद और गांधीवाद को भी उनका प्राप्य देने को तैयार रहते हैं।

सच्चाई और गहराई से समन्वित उनके विभिन्न लेख 'प्रगतिवाद' और 'साहित्य की परख' में संग्रहीत हैं। 'प्रगतिवाद', 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना', 'श्री सुमित्रानन्दन पंत', 'भारत की जन-नाट्यशाला', 'कथा साहित्य की समस्याएँ' आदि आलोचनात्मक निबन्धों ने आलोचना के क्षेत्र को आलोकित किया है।

'प्रगतिवाद' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं—'ये सब दार्शनिक सिद्धान्त आदर्शवादी थे, छायावाद का दार्शनिक आधार भी आदर्शवाद ही रहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चूँकि प्रगतिवाद आदर्शवादी दर्शन का अपना आधार न मानकर वैज्ञानिक भौतिकवाद को स्वीकार करता है, इस कारण वर्जित है। किन्तु प्रश्न आदर्शवादी और यथार्थवादी दर्शन का नहीं है। प्रश्न तो वस्तुतः यह है कि प्राचीन दर्शनों से प्रभावित होने पर साहित्य की अपनी विशिष्ट सत्ता कहाँ तक बनी रही और वर्तमान मार्क्सवाद की भूमिका पर प्रतिष्ठित साहित्य का स्वरूप किस प्रकार का हो जाता है। पहले क्या किसी साहित्याकार ने इस

प्रकार प्रत्यक्ष रूप से साहित्य को किसी दर्शन के प्रचार के अन्त के रूप में ग्रहण किया था ।

उनके मत से आलोचना क्षेत्र में प्रगतिवाद साहित्यिक-रचना-क्रिया को 'मैं' से सम्बन्धित कर उसे सीमित नहीं बनाता, समाज से सम्बन्धित करता है। यदि इसीलिए वे प्रगतिवाद को आवश्यक मानते हैं तो इस नये वाद की कोई आवश्यकता नहीं दीखती। यह भावना तो चिरकाल से साहित्य शब्द में ही 'सहित' के भाव में समन्वित है। 'नारेवाजी' को वे मान्यता नहीं देते क्योंकि नारा तत्कालिक आवश्यकताओं से इतना आवद्ध रहेगा कि परिस्थितियों के बदलने पर बेकार हो जावेगा और कदाचित नई परिस्थितियों के विपरीत पड़कर वह उनके विकास में बाधक हो उठेगा।

'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' को दिखलाते हुए वे लिखते हैं कि 'छायावाद का कवि अपने समाज की विडम्बनाओं से बिना अपनी वर्ग भावनायें और वर्ग सहानुभूतियाँ छोड़े, बच कर कहाँ जाए। अकेला पड़कर एक ही निश्चय पर पहुँच सकता है कि 'डूबना' निश्चित जानकर वह 'विसर्जन' को ही अपना कर्णधार मान ले। इसके प्रमाण में महादेवी के 'घोरतम छाया चारों ओर' को प्रस्तुत किया गया है किन्तु महादेवी की यह रचना सामाजिक नहीं रहस्यवादी है।

श्री शिवदानजी में वस्तु में पैठने की अद्भुत शक्ति है। वे उदार दृष्टि से आलोच्य को देखते हैं जिससे उनमें मत्सर की वृत्ति नहीं आने पाई है। दृष्टिकाण में सहानुभूति की वृत्ति होने के कारण ही वे अल्पसंख्या में लिखने पर भी अपना स्थान बना सके हैं।

प्रगतिशील समीक्षकों में श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' और श्री भगवतशरण उपाध्याय का नाम भी उल्लेखनीय है। 'मिष्टी' की

और' एवं 'अर्द्धनारीश्वर' जैसी पुस्तकों में 'दिनकर'जी के विचार मुखरित हुए हैं। वे हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी पक्ष के समर्थक हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे छायावादी शैली की कविताओं के विरोधी हैं। छायावाद द्वारा हिन्दी को जो कुछ मिला है उसे उन्होंने अपने निबन्धों में स्वीकार किया है। प्रगतिवादी के स्वर में उन्होंने कला का मूल्य निर्धारित करते हुए कहा है—“कला की प्रत्येक कृति मनुष्य को एक ढग आगे ले जानेवाली होनी चाहिए।” वे काव्य को सोद्देश्य मानते हैं। काव्य के मुख्य गुण के रूप में वे लौकिकता को स्वीकृति देते हैं।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने विभिन्न निबन्धों के रूप में अपने समीक्षात्मक भावों को अभिव्यक्त किया है। ग्रन्थ के रूप में 'इन्डिया इन कालिदास' एक महत्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ है। 'नूरजहाँ' एक स्तुतिपूर्ण निबन्ध है जिसमें उनकी भावुकता अधिक लक्षित हुई है। 'वासवदत्ता', 'विभूति', 'दिव्या' 'बोल्गा से गंगा', 'गरुडध्वज', 'क्या गोरी क्या साँवरी', 'नदी के द्वीप' आदि पुस्तकों पर उन्होंने समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। इन सबमें ही मार्क्सवादी दृष्टि लक्षित हुई है और आर्थिक स्थिति को द्वन्द्वात्मक-संघर्षात्मक प्रगति का मूल माना गया है। मार्क्सवादी होते हुए भी वे 'पार्टी-जन' नहीं हैं। सत्य को दृढ़तापूर्वक सामने रखना ही उन्हें भाता है। व्यंग और व्यंजनाओं का आश्रय लेकर ही उन्होंने अपने शैली को पुष्ट किया है।

वर्ग २ : मनोविश्लेषणवादा समीक्षा

रचयिता के वैयक्तिक मनोविज्ञान को लेकर फ्रायड, एडलर और युंग के मत काफी प्रचलित हो गए हैं। वे साहित्य का आधार अंतश्चेतना को मानते हैं, पर अंतश्चेतना की विधि-

व्यवस्था के सम्बन्ध में इन लोगों में भी मतैक्य नहीं है और नए-नए संशोधन होते जा रहे हैं।

‘फ्रायड’ ने सभी क्रियाओं के मूल में काम-वासना को स्वीकार किया है। सामाजिक शिष्टाचार और रोक-थाम ‘सेन्सर’ वश काम-वासना उपचेतना में दबी रहकर अपने निकास का मार्ग खोजती रहती है। काव्य भी इन्हीं निकास के मार्गों में से एक है, जिसमें वासना का उन्नयन और पर्युत्थान ‘सन्निवेशन’ हो जाया करता है।

‘एडलर’ के अनुसार अभाव या क्षति की पूर्ति ही जीवन को प्रेरित किया करती है। ‘इनफीरिआरटी कॉम्प्लेक्स’ (हीनभाव) से प्रेरित क्षतिपूर्ति के भाव से साहित्यिक, साहित्य का निर्माण करता है। वह प्रभुत्व की इच्छा से यह निर्माण करता है, अतः प्रभुत्व के द्वारा अभाव की पूर्ति की भावना ही मूल प्रेरक-शक्ति है।

‘युंग’ के मत में ‘फ्रायड’ और ‘एडलर’ के मतों का समन्वय हो गया है। उसके अनुसार कुछ लोगों में काम-वासना का और कुछ लोगों में प्रभुत्व-कामना का जोर रहता है। इसी भेद के कारण कुछ लोग अन्तर्मुखी और कुछ बहिर्मुखी व्यक्तित्व के होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में ‘आत्म-समर्पण’ की भावना रहती है और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के लोगों में ‘प्रभुत्व-कामना’ की भावना।

‘युंग’ का मत भारतीय दृष्टि के अधिक समीप है। भारतीय दृष्टि से आत्म-विस्तार की भावना ही मूल प्रेरक-शक्ति है। यह आत्म-विकास, प्रभुत्व-कामना और आत्म-समर्पण के सुख से ही होता है। भारतीय ‘एषणात्रई’ भी आत्म-विकास के निमित्त ही है। फ्रायड, एडलर, युंग आदि के विचारों में भिन्नता देख

कर मनोविश्लेषणात्मक पद्धति सम्बन्धित विचारकों के विचार-वैभिन्न्य का बोध होता है। मत की इसी विभिन्नता का परिणाम है कि इस पद्धति के सम्बन्ध में अभी कोई निश्चित विचार-धारा नहीं बन सकी है।

आलोचना के क्षेत्र में मनोविश्लेषण-शास्त्र का भी पुट आने लगा है। इसमें कवि की कुंठाओं आदि का उल्लेख रहता है। इस प्रकार की आलोचनाओं में कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों एवं उनके प्रभाव के आधार पर आलोच्य-कृति की आलोचना होती है। ऐतिहासिक आलोचना से इसका इस रूप में अन्तर है कि वह देश की परिस्थितियों को महत्व देती है किन्तु यह व्यक्ति की ही आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों पर दृष्टि रखती है।

अन्तश्चेतना पद्धति ने साहित्यिक समीक्षा को क्या दिया, यह कहना अभी संभव नहीं है किन्तु उससे एक नये प्रकार की साहित्य धारणा अवश्य चल पड़ी है जिसका आशय यह है कि साहित्यिक की सृष्टि प्रायः साधारण लोग नहीं किया करते। साहित्य-स्रष्टा को वे एक प्रकार का व्यक्ति मानते हैं। वे स्वप्न-द्रष्टा होते हैं और उनके द्वारा देखे गये स्वप्न ही हमें साहित्य के रूप में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के समीक्षकों का कहना है कि जिस तरह स्वप्न में देखे हुए दृश्यों का अर्थ और भाव समझना किसी वैज्ञानिक का ही काम है, वैसे ही इन काव्य-प्रतीकों का अर्थ समझना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। उनके इस कथन से साहित्य अपना सार्वजनिक स्वरूप खोकर कुछ विचारकों के विचार का विषय बन जाता है। यह साहित्य की मूल-वृत्ति के प्रतिकूल होने के कारण अप्राप्त्य है। साहित्य के क्षेत्र में यह परीक्षा-विधि अभी सर्वथा निर्भ्रान्त

भी नहीं कही जा सकती। आधुनिक मनोविज्ञान तो स्वयं अभी प्रयोगावस्था में है, फिर उसकी मान्यताएँ कैसे ली जा सकती हैं। अभी तो उसके चिन्तकों तक में मतैक्य नहीं हो सका है, फिर ऐसी स्थिति में इस प्रकार की समीक्षा का समर्थन कैसे किया जा सकता है।

वाद के रूप में चाहे यह पद्धति ठीक न हो, पर साहित्य के निर्माण-प्रक्रिया को समझाने की इनकी चेष्टा ठीक है। समीक्षा के क्षेत्र में इस पद्धति को लागू करनेवाले ममीक्षकों में 'अज्ञेय', श्री इलाचन्द जोशी, श्री नगेन्द्र आदि के नाम प्रमुख हैं। व्यावहारिक रूप में इस पद्धति को समझने के लिए इन विचारकों की प्रणाली और समीक्षा पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले लेखकों में 'अज्ञेयजी' प्रमुख हैं। उन्होंने 'प्रयोगवाद' का संस्थापन किया है तथा इस 'वाद' के प्रोत्साह-सचिदानन्द नार्थ 'तार-सप्तक' का संपादन आरम्भ किया है। होराचन्द वात्स्यायन 'तार-सप्तक' में वे प्रयोगवादी को काव्य के प्रति 'अज्ञेय'] एक अन्वेषी का दृष्टिकोण लेकर बढ़ने वाला कहते हैं। उनके अनुसार प्रयोगवादियों में मतैक्य नहीं है। उनमें मतैक्य की कमी का होना ही यह भिन्न करता है कि अभी प्रयोगवाद 'वाद' के रूप में नहीं लिया जा सकता। अन्वेषी के रूप में प्रयोगवादियों ने क्या अन्वेषण किया, कहा नहीं जा सकता।

खोज के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण वैज्ञानिक ढंग रखने पर उनका जोर है। और इसीलिए साहित्य के प्रश्न को वे साहित्य के या साहित्यालोचन के संकुचित घेरे से निकाल कर उसे एक सांस्कृ-

तिक विभूति के रूप में दिखाना चाहते हैं। यह रूप उसे कैसे प्राप्त होगा, यह जानने के लिए 'समाज के संगठन' की ओर ध्यान देना वे आवश्यक मानते हैं।

उन्होंने संस्कृति के लिए मशीन को घातक माना है। अपने इस विचार से वे प्रगतिशील विचारकों से भिन्न और कुछ गांधीवादी विचारधारा के निकट दीखते हैं। साहित्य में 'मास-अपील' की भावना को आवश्यक मानते हुए वे साहित्य को सस्ता, घटिया और एकरस बनाने का कारण 'विज्ञापन-बाजी' को मानते हैं। यह विज्ञापन-बाजी 'मशीनयुग' की देन है जो साहित्य को निचले स्तर पर ले जा रही है।

उनके अनुसार समाज वह पर-वृत्ति है जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार अपनापा महसूस करे। प्रत्येक कला, चेष्टा के जड़ में अपर्याप्तता की भावना काम करती रहती है। वे 'त्रिशंकु' के पृ० २७ पर लिखते हैं : 'कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है। कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में स्वान्तः सुखाय भी होता है। 'समाज के सम्बन्ध में अपनापा महसूस करने की शर्त, कला में अपर्याप्तता की भावना जो 'इनफिरिआरटी कॉप्लेक्स' से भिन्न नहीं कही जा सकती, तथा नैतिक मान्यता के साथ ही 'स्वान्तः सुखाय' की भावना जैसे विचार उन्हें मनोविश्लेषण-वादियों के वर्ग में ला रखते हैं। वे 'एडलर' की विचारधारा से अधिक सहमत दीखते हैं।'

मनोविश्लेषणवादी होने के कारण 'एडलर' की तरह वे भी 'त्रिशंकु' के पृ० संख्या ४७ पर स्पष्ट शब्दों में कहते दीखते हैं : 'आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास का साहित्य है।'

‘साहित्य में कुंठा’ को देखना अज्ञेयजी के लिए स्वाभाविक ही है। जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व वे करते हैं, उस वर्ग के समीक्षकों के सामने ‘कुंठा’ और ‘सामाजिक दबाव’ अर्थात् ‘सोसल सप्रेसन’ महत्वपूर्ण तत्व हैं। इस वर्ग के प्रतिनिधि समीक्षक के रूप में वे कहते दीखते हैं कि संक्रामक युग में साहित्य, परिवर्तन की डगमग स्थिति में आश्रय की खोज में विह्वल है और यह माँग कुंठित हो गयी है, अतः इस माँग के कुंठित हो जाने से जो दौर्हृद, जो क्लान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है। ‘त्रिशंकु’ के पृ० ५० पर व्यक्त किये गए इन विचारों के साथ ही उन्होंने हिन्दी साहित्य को प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य कहा है। इस कुंठा का होना वे सामाजिक दबाव के प्रतिरोधवश मानते हैं। उनकी तीन स्थापनाएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं : १. कला की सामग्री को सीमित करना अनाधिकार चेष्टा है। २. परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हम जैसी प्रेरणा चाहते हैं, वह यदि साहित्यकार में स्वभावतः नहीं है, तो हम बलात् उसे पैदा नहीं कर सकते। ३. साहित्य में प्रेरक-शक्ति हो सकती है, किन्तु वह साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयंभूत फल है।

प्रगतिवाद के सिद्धान्त को साहित्य-सृष्टि के क्षेत्र में वे अस्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार गति का निरूपण करने वाला कलाकार नहीं होता, केवल आलोचक होता है। वे मानते हैं कि प्रत्येक साहित्य गतिशील है, किन्तु उसमें से कौन आगे जानेवाला प्रगतिशील है और कौन पीछे जानेवाला प्रगतिशील है, इसका निर्णय देनेवाला आलोचक है, न कि स्वयं साहित्यकार जो परिस्थितिबश जैसा अनुभव करता है वैसा ही लिखता है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है अज्ञेयजी की शैली व्यक्ति प्रधान है। प्रश्न और उत्तर के द्वारा वे सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा शकाओं का समाधान करते हैं। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण और कहानियों का प्रयोग भी करते हैं।

आधुनिक आलोचकों में श्री इलाचन्द्र जोशी का सोचने का ढंग मनोवैज्ञानिक है। उनके विचारों का दर्शन 'साहित्य संतरण',

'साहित्य सर्जना' नामक पुस्तकों में होता है।

इलाचन्द्र जोशी] स्फुट निबन्धों के इन संग्रहों पर विचार करने से ही लेखक की पद्धति और विचारधारा का ज्ञान

हो सकता है।

विश्वव्यापी-विरह के भाव को वे कला का मूल मानते हैं और इसी मूल भाव से साहित्य कला की अभिव्यक्ति मानते हैं। विरह का यह भाव मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि का परिचायक है। आत्म-निपीणन को कवि के लिए वे आवश्यक मानते हैं और कवि के जीवन-व्यापी आत्म-निपीणन द्वारा वास्तविक कविता के रस की प्राप्ति को मान्यता देते हैं। कविता में अस्पष्टता को अधिक स्वीकृत देते हुए कहते हैं कि प्रकृति जैसे अपनी वासना-मयी प्रवृत्ति पर आवरण डाले रहती है, वैसे ही कविता को भी, रूपक और अस्पष्टता का आवरण, यथार्थ से छिपाने के लिए आवश्यक है। उनके अनुसार यथार्थ का चित्रण ढोंग है। भाव-प्रेषण में अस्पष्टता दोष रूप में मानी जाती है, अतः उसे मान्यता देना उचित नहीं लगता।

उन्होंने भावुकता को नहीं, भावज्ञता को स्वीकृति दी है। कहानी का उद्देश्य वे स्वाभाविक रीति से सौन्दर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना मानते हैं। साहित्य तथा कला के साम्राज्य में वे व्यक्तिगत चेतनाविवाद को ही प्रधानता देते हैं। उनका मत है

कि साहित्यिक, अनुभव गत प्रभावों की ही अभिव्यक्ति किया करता है ।

हिन्दी आलोचना में इलाचन्द जोशी ने मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को स्वीकृति देने के साथ ही प्रगतिशील शक्तियों का विरोध भी किया है । वे आरंभ में 'आस्कर वाइल्ड' से प्रभावित थे, पर अब 'एडलर' का प्रभाव उनपर स्पष्टतः लक्षित हो रहा है । 'एडलर की तरह ही वे भी अप्राप्यता की भावना अर्थात् हीन-भावना को अधिक महत्व देते दीख रहे हैं । हिन्दी कवियों को इसी भावना से ग्रस्त बनाने में वे आजकल अधिक संलग्न हैं ।

जोशीजी की भाषा में गति है । वे कहीं तो बहुत सरल भाषा लिखते हैं, किन्तु कहीं अत्यन्त क्लिष्ट संस्कृत पदावली से युक्त लम्बे वाक्यों का प्रयोग करते हैं । जहाँ इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्य आते हैं वहाँ मस्तिष्क को श्रम करना पड़ता है और अर्थ-दुरुहता आ जाती है ।

श्री नगेन्द्रजी की आलोचना में शास्त्रीयता के साथ ही 'छायावादिता' भी मिली हुई दृष्टिगत होती है । रीतिवाद, छाया-वाद और यथार्थवाद, तीनों का दर्शन उनकी
नगेन्द्र] कृतियों में होता है । प्रगति के मूल को ही वे आलोचनात्मक मानते हैं । आजकल फ्रायडियन दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण वे मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं । 'विचार और अनुभूति' में उनका यह रूप अधिक स्पष्ट हुआ है ।

'सुमित्रानन्दन पंत' में लेखक ने पंत जी पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है । छायावादी-पंत ने छायावाद के तत्वों को कहाँ तक अपनी कृतियों में स्थान दिया है तथा छायावाद और रहस्यवाद क्या है, जैसे प्रश्नों की व्याख्या छायावादी शैली

पर ही की गई है और छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह के रूप में स्वीकार किया गया है। 'पंत जी का भाव जगत', 'पंत जी की विचारधारा तथा 'पंत जी की कला, भाषा और उनके ग्रन्थों' पर विचार प्रस्तुत करने में व्याख्यात्मक पद्धति ही अपनाई गई है। 'सुमित्रानन्दनपंत' के अतिरिक्त 'साकेत : एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक', 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता' आदि भी उनकी समीक्षा पुस्तकें हैं। अन्य विचारों के साथ ही सिद्धान्तों पर भी नगेन्द्रजी ने विचार किए हैं। 'साधारणीकरण' पर विचार करते हुए उन्होंने रीतिकाव्य की भूमिका में कहा है कि आलंबन..... के साधारणीकरण का अर्थ, 'कवि की अनुभूतिका साधारणीकरण' है। किन्तु नगेन्द्र जी वर्तमान समय में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

मनोविश्लेषणवादी होने के कारण वे भी अभाव को साहित्य की सृष्टि का कारण मानते हैं। वे कहते हैं : 'सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है अभाव की पीड़ा में जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी मेरे मानस से कविता की उद्भूति होती है, केवल आनन्द या केवल पीड़ा, कविता की सृष्टि नहीं कर सकती। 'पुनः विचार और अनुभूति' के पृ० ४ पर वे कहते हैं : "करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है।" उनके मनोविश्लेषणवादी होने का प्रमाण उनके उपर्युक्त कथन से मिल जाता है। 'धुरमूल' तक पहुँचने के लिए मनो-वैज्ञानिकों की शरण वे आवश्यक मानते हैं। आत्मा के निर्माण में काम-वृत्ति को प्रधान मानकर वे ललित-साहित्य की प्रेरणा

में काम-वृत्ति की प्रमुखता को असंदिग्ध ठहराते हैं। उनका कहना है कि 'जो आनन्द-दायक है वह उपयोगी है ही, इसी बात को भूलकर आलोचक प्रायः सुन्दर से सुन्दर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है।' वे इस भूल के परिणामस्वरूप ही 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' जैसे सिद्धान्तों में विरोध देखते हैं।

डा० नगेन्द्र व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रित मानते हुए भी व्यक्ति की सत्ता को समाज की सत्ता से बलवती ठहराते हैं, किन्तु आज के युग में समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान करना ही उचित लगता है। समाज से ही व्यक्ति जीवित है, अतः समाज की सत्ता व्यक्ति से अधिक बलवती है।

मनोविश्लेषणवादियों की तरह वे भी आलोच्य पर विचार करते समय लेखक की परिस्थिति, उसके दृष्टिकोण, उसकी सामाजिक चेतना आदि पर विचार प्रकट करते हैं। 'गुलेरीजी की कहानियाँ' कैसी हैं तथा उनकी 'टेकनीक' क्या है इसे निर्धारित करने में गुलेरीजी के दृष्टिकोण, उनकी सामाजिक चेतना आदि पर विचार किया गया है। वे साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं तथा 'रस' को जीवन का सबसे बड़ा पोषकत्व मानते हैं। जीवन की प्रेरकशक्ति के रूप में आत्म-रक्षा को मानकर वे आत्माभिव्यक्ति को उसका प्रमुख साधन बतलाते हैं। साहित्य को एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति मानकर, साहित्य के मूल को साहित्यकार की आत्मा की महत्ता और अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सच्चाई के अनुपात से ही आँकने का प्रयास उन्हें ठीक लगता है। वे साहित्य को वैयक्तिक चेतना के रूप में स्वीकार करते हैं, सामूहिक चेतना के रूप में नहीं। 'साधारणीकरण' को अनिवार्य मानकर नगेन्द्रजी समीक्षा में भी समीक्षक

की आत्माभिव्यक्ति, जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है, को प्रमुख मानते हैं। वे यह मानते हैं कि आलोच्यकृति के सहारे आलोचक जितनी सच्चाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा, उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा। विचार-धारा के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादियों से सहमत होने पर भी वे अभिव्यक्ति की शैली में छायावादियों के निकट दीखते हैं। मधुर पदावली और कथन की शैली में कहीं वार्ता की पद्धति तो कहीं नाटकीय पद्धति का आश्रय लेकर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

अध्याय ६

निर्णय

शुक्लजी के परवर्ती समीक्षकों की समीक्षाओं पर विचार करने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि शुक्लोत्तर-समीक्षा उसी स्थान पर नहीं है, जहाँ वह शुक्लजी के समय में थी। समीक्षा के सभी वर्गों में नयी मान्यताएँ स्थिर हुई हैं। बादो-न्मुखी-वर्ग की समीक्षा तो अत्यन्त आधुनिक है ही, अन्य वर्गों में भी बहुत कुछ नवीनता आई है। इन्हीं परिवर्तनों को 'विकास' कहा जाता है और इस रूप में समीक्षा का विकासशील होना स्पष्ट है। विकास की दिशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शुक्लजी की समीक्षा प्रणाली में जो नए परिवर्तन किए गए हैं उनपर थोड़े में विचार कर लेना अच्छा होगा। अतः प्रत्येक वर्ग की समीक्षा में होनेवाले विकास को देखना समीचीन होगा।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी के बाद के विभिन्न समीक्षकों की समीक्षा कृतियों तथा उनके द्वारा मान्य सिद्धान्तों को देखने पर हमें साहित्यान्तर्गत स्थित सिद्धान्तों के विकास की दिशा का परिचय मिलता है। सैद्धान्तिक समीक्षा के विकास को देखने के लिए काव्य, काव्य-हेतु, कल्पना, प्रेषणीयता, रहस्यवाद और साधारणीकरण-सम्बन्धी विचारों पर दृष्टि रख कर शुक्लजी तथा उनके परवर्ती समीक्षकों का तुलनात्मक अध्ययन करना ठीक होगा।

शुक्लजी ने कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है : 'भावु-

कता ही कवि की प्रधान विभूति है।' रस-दशा को स्वीकृति देते हुए वे कविता में हृदय की मुक्तावस्था का अनुभव कराने का विशेष गुण मानते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार कविता लोक में लीन कराने की शक्ति रखती है। शुक्लजी के इसी विचार को पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ व्यापक ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है : 'लोक-प्रचलित अर्थ में कविता वह काव्य है जिसमें भावावेग हो, पदलालित्य हो, और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो।' शुक्लजी ने भावुकता को कविता में आवश्यक कहा है, तो द्विवेदीजी ने भावुकता के समानार्थी भावावेग को। शुक्लजी के हृदय की मुक्तावस्था में भी प्रयोजन निहित है, भले ही वे परम-स्वार्थ-जन्य न हों, किन्तु द्विवेदीजी कविता में प्रयोजन की सीमा की समाप्ति मानते हैं। यह अन्तर द्रष्टव्य है।

शुक्लजी ने काव्य में रस-सिद्धान्त को अधिक मान्य ठहराया है किन्तु उनके द्वारा उपेक्षित औचित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन उनके परवर्ती समीक्षक श्री बलदेवप्रसाद उपाध्याय द्वारा ही हो सका है।

शुक्लजी कल्पना को अनिवार्य मानते हुए भी, चरम-साध्य के रूप में उसे नहीं स्वीकार करते। उनके इस विचार का पल्लवन परवर्ती समीक्षकों ने भी किया है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चरम-साध्य के रूप में 'प्रयोजन की सीमा का अन्त' को स्वीकार किया है। कल्पना को साहित्य का अनिवार्य तत्व मानते हुए भी वे कल्पना को साध्य रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जिस साहित्य में कल्पना, विश्वास का रूप ले लेती है, वह पुराण हो जाता है, साहित्य नहीं। शुक्लजी ने बे-परकी उड़ान भरनेवाली कल्पना को वर्जित ठहराया है, श्री गुलाब राय ने उसके आगे 'दो विरोधी बातों को एक साथ न जोड़ने की

सीमा' भी निर्धारित करने का लक्ष्य किया है। इस प्रकार 'कल्पना' के सम्बन्ध में शुक्लजी के विचारों को परवर्ती समीक्षकों ने पल्लवित ही किया है।

'प्रेषणीयता' को कला के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि 'एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना' यही कला का लक्ष्य होता है। 'सुधांशु' जी के अनुसार काव्यानुभूति में प्रेषण का अनिवार्य गुण रहता है किन्तु यह गुण अनुभूति का नहीं बल्कि अभिव्यक्ति का है। अनुभूति सबमें होती है किन्तु प्रेषण सबमें नहीं रहता और यही कारण है कि सब एक-सी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। इस प्रकार 'सुधांशु' जी ने शुक्ल जी से कुछ आगे बढ़ कर यह भी स्पष्ट किया है कि प्रेषण किसका गुण है। प्रेषणीयता को उन्होंने अधिक बोधगम्य बना दिया है।

'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं : 'स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है'। इसमें सन्देह नहीं। "उसे हम" एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी वाद के साथ सम्बन्धित करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। 'पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रहस्यवाद को दर्शन की चीज कहकर हृदयपक्ष-प्रधान काव्य के क्षेत्र में उसे अस्वीकार करते हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी व पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रहस्यवाद सम्बन्धी जिन विचारों से साहित्य जगत को अवगत कराया है, वे विकास के ही सूचक हैं।

'साधारणीकरण' के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने आलम्बन अर्थात् आलम्बनत्वधर्म के साधारणीकरण को स्वीकार किया है, किन्तु डा० नगेन्द्र काव्य के विषय को कवि की भावना ही मानते हैं

और उसी भावना का साधारणीकरण होता मानते हैं। साधारणीकरण सम्बन्धी यह भेद भी द्रष्टव्य है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न सिद्धान्तों पर दिए गये विभिन्न समीक्षकों के मत के परीक्षण पर शुक्ल जी और उनके परवर्ती समीक्षकों में भेद दीखता है। इस भेद और परिवर्तन के कारण ही समीक्षा को विकासशील कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में भी शुक्ल जी और परवर्ती समीक्षकों के विचार एकदम एक ही नहीं दिखाई पड़ते। इतिहास के आधार पर तथ्यों के उद्घाटन का जो क्रम आचार्य शुक्ल ने आरम्भ किया उसका उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। शुक्ल जी के बाद के समीक्षकों ने, उनके द्वारा दिए गये निर्णयों के मूल कारणों का शोध इतिहास के द्वारा अधिक व्यापक ढंग पर किया है। उन्होंने भक्ति-काल को निर्गुण और सगुण विभाग में बाँट दिया है किन्तु श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस विभाजन का कारण स्पष्ट करने के साथ ही बताया है कि बौद्ध व शैव साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ है, तथा मध्य-युग के साहित्य पर बौद्ध आचार्यों के तत्त्ववाद का प्रभाव है। शुक्लजी ने निर्गुण-भक्ति-शाखा का पूरा वर्णन करने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि किस कारणवश निर्गुणियों में भारत के सभी आध्यात्मिक तत्वों का सार मिलता है। इसका उद्घाटन श्री पीताम्बरदत्त बड़धवाल ने किया है और उसके मूल में निर्गुणियों की सारग्राहिता प्रवृत्ति का निर्देश किया है। शुक्ल जी 'छायावाद' के उद्भव के मूल में द्विवेदी युग से ऊब जाने को तथा पदलालित्य की कांक्षा को कारण रूप स्वीकार करते हैं किन्तु श्री केशरीनारायण शुक्ल ने छायावाद के

उद्भव के मूल में रवि बाबू के प्रभाव को भी स्पष्ट किया है ।

साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में अपनी रुचि का प्रदर्शन घातक होता है । शुक्ल जी, व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी अपनी रुचि का त्याग न कर सके थे, जिससे समीक्षा में उनका सिद्धान्तवाद बोलता दीखता है । शुक्ल जी के बाद के समीक्षकों में केवल श्री विश्वनाथप्रसाद श्रि तथा श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने ही इस पद्धति का अनुसरण किया । इन लोगों के अतिरिक्त अन्य सभी समीक्षकों ने तटस्थ भाव से देखने की शुद्ध व्याख्यात्मक दृष्टि को ग्रहण किया । छायावादी दृष्टिकोण को श्री शान्तिप्रिय जी ने अप्रसर तो किया, किन्तु अपनी रुचि को समीक्षा पर लादने का यत्न नहीं किया । प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा से शुक्ल जी की न बनती थी, पर इस प्रकार की समीक्षा उनके बाद पर्याप्त मात्रा में हुई । शुक्ल जी की समीक्षा में बुद्धि-वैभव और पांडित्य का गौरव था । शुक्ल जी की सभी विशेषताओं के साथ स्वच्छन्दतावादी स्फूर्ति लेकर विदेशी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों से परिचित नूतन दृष्टि संपन्न श्री नन्ददुलारे वाजपेयी आए । पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी में शुक्लजी के संवेदनात्मक तत्व का विकास लक्षित होता दिखाई पड़ता है । इस प्रकार शुक्लोत्तर-समीक्षा में आलोच्य को आलोच्य के मानदंड से देखने की प्रवृत्ति तथा उसके प्रति सहानुभूति की भावना सबल हुई ।

पश्चिमी समीक्षा का अध्ययन और उपयोग डा० श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा किया गया । वर्तमान समीक्षकों को, इन महानुभावों ने पथ दिखला कर मार्ग प्रस्तुत किया । वर्तमान समीक्षकों में से एक वर्ग साहित्य की क्रमागत परम्परा और ऐतिहासिक विकास को प्रमुखता देते हुए साहित्य

में मानवीय दृष्टिकोण को लेकर चला है। दूसरा वर्ग अधिक विचारशील है और उसकी निष्ठा 'वाद' में अधिक है। इस दूसरे दल में विभिन्न मत हैं। साहित्य-विवेचन की अपेक्षा इसमें समीक्षक, अपने 'वाद' के सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य का विवेचन करता है। मनोविश्लेषणवादी हुआ तो फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धान्तों तथा अंतश्चेतन-तत्त्व को समीक्षा के क्षेत्र में देखना चाहता है और प्रगतिवादी हुआ तो मार्क्स और लेनिन की दुहाई देता तथा भौतिक-तत्त्व को प्रधानता देता दीखता है। शुक्लजी के समय में 'वाद-निष्ठ' समीक्षा की इन पद्धतियों का चलन न था। यह पद्धति शुक्लोत्तर समीक्षा की अपनी विशेषता है। इनके आधार पर कुछ खतरे अवश्य आ गए हैं तथा साहित्यिक-वृत्ति को ठेस भी पहुँची है, पर यह परिवर्तन हुआ है और शुक्लोत्तर-समीक्षा का विकास सिद्ध करता है

अनुक्रमणिका

: शुक्लोत्तर समीक्षकों द्वारा प्रणीत कृतियों की सूची :

- | | | |
|----|-----------------------------|------------------------------|
| इ. | १. इन्द्रनाथ मदान : | १. हिन्दी के कलाकार |
| क | १. कन्हैयालाल | १. समीक्षायण |
| | २. कमल कुलश्रेष्ठ : | १. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य |
| | ३. कृष्णशंकर शुक्ल : | १. कविवर रत्नाकर |
| | | २. केशव की काव्यकला |
| ४ | कृष्णानन्द गुप्त : | १. प्रसाद के दो नाटक |
| ५. | केशरीनारायण शुक्ल : | १. आधुनिक काव्य-धारा |
| | | २. आधुनिक काव्यधारा का स्रोत |
| ग | १. गंगाप्रसाद पाण्डेय : | १. काव्य कलना |
| | | २. छायावाद व रहस्यवाद |
| | | ३. निबंधिनी |
| | | ४. नीरक्षीर |
| | | ५. महादेवी वर्मा |
| | २. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' | १. गुप्तजी की काव्यधारा |
| | | २. महाकवि हरिऔध |
| | ३. गुलाब राय : | १. काव्य के रूप |
| | | २. नव-रस |
| | | ३. प्रबन्ध-प्रभाकर |
| | | ४. प्रसादजी की कला |

४. गोविन्द त्रिगुणायत :
 १. चन्द्रबली पाण्डेय :
 ५. सिद्धान्त और अध्ययन
 १. कबीर की विचारधारा
 १. तसव्वुक और सूफी मत
 २. तुलसीदास
 ३. महाकवि केशवदास
 ४. विचार-विमर्श
 ५. साहित्य-संदीपनी
 ६. हिन्दी-कविचर्चा
 ७. हिन्दी-गद्य का निर्माण
 ८. १. छैलबिहारीलाल 'राकेश'
 गुप्त :
 १. रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
 (अंग्रेजी में)
 १. जगन्नाथप्रसाद शर्मा :
 १. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय
 अध्ययन
 २. हिन्दी-गद्य के निर्माता
 ३. हिन्दी-गद्य-शैली का विकास
 २. जनार्दनप्रसाद द्विज :
 ३. जयनाथ 'नलिन' :
 १. प्रेमचन्द की उपन्यास-कला
 १. हिन्दी के नाटककार
 ३. दीनदयालु गुप्त :
 १. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय
 १. छायावाद का पतन
 २. साहित्य-चिन्ता
 ३. देवराज उपाध्याय :
 १. रोमांटिक-साहित्य-शास्त्र
 ३. त्रिलोकीनारायण दीक्षित :
 १. मन्त दर्शन
 २. प्रेमचन्द
 १. नगेन्द्र जी :
 १. आधुनिक हिन्दी नाटक
 २. देव और उनकी कविता
 ३. रीति-काव्य की भूमिका

४. साकेत : एक अध्ययन
 ५. मुमित्रानन्दन पन्त
 २. नन्ददुलारे वाजपेयी : १. आधुनिक हिन्दी साहित्य
 २. जयशंकर प्रसाद
 ३. हिन्दी-साहित्य २०वीं सदी
 ४. नया साहित्य—नये प्रश्न
 ३. नलिनविलोचन शर्मा : १. दृष्टिकोण
 ५ १. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : १. विश्व-साहित्य
 २. हिन्दी साहित्य विमर्श
 २. पद्मसिंह शर्मा : १. बिहारी की सतसई
 ३. पद्मावती शबनम : १. मीरा : एक अध्ययन
 ४. परशुराम चतुर्वेदी : १. उत्तरी भारत की संत परंपरा
 २. मीराबाई की पदावली
 ३. वैष्णव धर्म का क्रमिक विकास
 ४. संत काव्य
 ५. सूफी काव्य-संग्रह
 ६. नव-निबन्ध
 ७. मध्यकालीन प्रेमसाधना
 ८. मानस की रामकथा
 ५. पीताम्बरदत्त बड़थवाल : १. हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा
 २. योग प्रवाह
 ६. प्रकाशचन्द गुप्त : १. नया हिन्दी साहित्य
 ७. प्रभाकर माचवे : १. समीक्षा की समीक्षा
 २. व्यक्ति और बाङ्ग्य
 ८. बच्चन सिंह : १. क्रान्तिकारी कवि निराला

२. विश्वम्भर मानव :
३. ब्रजरत्नदास
- म १. मन्मथनाथ गुप्त :
- य १. यज्ञदत्त शर्मा :
- र १. रघुवंश :
२. रामकुमार वर्मा
३. रामखेलावन पांडेय
४. रामचन्द्र शुक्ल
२. भारतेन्दु की कविता (श्री शिव-
नाथ के साथ)
१. खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ
२. महादेवी
३. सुमित्रानन्दन पन्त
४. हमारे कवि
१. नाटकों का विकास
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१. प्रगतिवाद की रूपरेखा
१. कबीर साहित्य और सिद्धन्त
१. हिन्दी काव्य में प्रकृति
२. संस्कृति काव्य में प्रकृति
१. कबीर का रहस्यवाद
२. समालोचना
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक
इतिहास
४. हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक
अनुशीलन
१. गीति-काव्य
१. काव्य में रहस्यवाद
२. गोस्वामी तुलसीदास
३. जायसी की भूमिका
४. नाट्य-निर्णय
५. रस-मीमांसा
६. सूरदास
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास

- | | |
|-----------------------------|--|
| ३. सुधीन्द्र : | १. हिन्दी कविता में युगान्तर |
| ४. सीताराम चतुर्वेदी : | १. अभिनव नाट्यशास्त्र |
| | २. समीक्षा शास्त्र |
| ५. डा० सोमनाथ : | १. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास |
| ६. एस० पी० खन्नी : | १. नाटक की परम्परा |
| | २. आलोचना, इतिहास तथा मिथ्यात्व |
| श १. शान्तिप्रिय द्विवेदी : | १. कवि और काव्य |
| | २. ज्योति-विहग |
| | ३. युग और साहित्य |
| | ४. संचारिणी |
| | ५. सामयिकी |
| | ६. साहित्यिकी |
| २. शिवदान सिंह चौहान : | १. प्रगतिवाद |
| | २. मानव आत्मा के शिल्पियों से |
| | ३. साहित्य की परम्परा |
| | ४. हिन्दी गद्य |
| ४. शिवनाथ एम० ए० : | १. अनुशीलन |
| | २. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| | ३. आधुनिक साहित्य की भूमिका |
| | ४. नाटकों का विकास |
| | ५. मीमांसिका |
| | ६. भारतेन्दु की कविता (श्री बच्चन सिंह के साथ) |
| ४. शिवनारायण श्रीवास्तव : | १. हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार |
| | २. हिन्दी उपन्यास |
| ५. शचीरानी गुर्दा : | १. साहित्य दर्शन |

- अ १. श्रीकृष्णलाल : २. हिन्दी के आलोचक—(संपादित)
१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास
२. मानस दर्शन
३. मीराबाई
- ब १. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : १. आनन्दघन व चानानन्द
२. बिहारी
३. बिहारी की वाग्विभूति
४. भूषण ग्रन्थावली
५. वाङ्मय-विमर्श
६. हिन्दी का समसामयिक साहित्य
- इ १. इजारी प्रसाद द्विवेदी : १. अशोक के फूल
२. कल्पलता
३. कबीर
४. विचार और चिन्तक
५. साहित्य का सार्थ
६. मूर साहित्य
७. हमारी साहित्यिक समस्याएँ
८. हिन्दी साहित्य की भूमिका
९. मध्यकालीन धर्मसाधना
१०. हिन्दी साहित्य का आदि काल ?
११. हिन्दी साहित्य
१२. साहित्य का मर्म
- उ १. ज्ञानवती देवी : १. घनानन्द

